नहीं था परंतु अटकल से उन्होंने जान लिया कि तेजा मारा गया। जब लछमा सचेत हुई तब ख़ूब ही रोई झोंकी और घरवाले भी रोये; गांववालों ने, अड़ोसी पड़ोसियों ने उनके साथ सहानुभूति दिखलाई! और विशेष लिखकर पाठकों का हृदय दुखाने से कुछ लाभ नहीं है। ऐसे समय में जो कुछ होता आया है सब ही हुआ।

गानेवाले कहते हैं कि—"माता से घोड़ी ने सारा क़िस्सा कह सुनाया था।" इस पर कोई भरोसा करे या न करे उसे अधिकार है। यदि उसका आदमी की तरह बोलना असंभव है, यदि इसी तरह सांप का बात चीत करना असंभव है तो तेजा को मरते मरते जिला देनेवाले—साँप के काटे को प्राणदान करनेवाले और यों असंभव को संभव कर दिखानेवाले चमत्कार के पासंग में हैं। राजपूताने के जो लाखों आदमी इन चमत्कारों को सत्य मानते आए हैं उनके लिये तो सत्य है ही किन्तु जिनके हृदय की ऊसर भूमि में हज़ार बीज पड़ने पर भी विश्वास का अंकुर नहीं जम सकता वे मान लें कि घोड़ी ने दोनों जगह इशारों से समझा दिया था। जो घोड़े घोड़ी के स्वभाव का अध्ययन करनेवाले हैं अथवा जिन्होंने प्राणिविद्या का अनुशीलन किया है वे अवश्य मानेंगे कि पशु पक्षियों की, कीट पतंगादिकों की भी कोई भाषा है और जो अभ्यास करता है उसके लिये असाध्य नहीं है; कष्टसाध्य भले ही हो।

अच्छा जो जैसे माने उसे वैसे ही मानने दीजिये। घोड़ी के बताये हुए ठिकाने पर तेजा की तलाश करने के लिये घायल घोड़ी के खुरों तथा उसके रक्त-बिन्दुओं के चिह्न के सहारे सहारे तेजा की माता, उसका पिता और सगे साथी बैल गाड़ी पर सवार होकर चल दिये। घोड़ी के प्राण पखेरू वहीं उड़ गये।

अपने मालिक मालकिन के आत्मविसर्जन की सूचना देने के अनंतर जब घोड़ी ने अपने प्यारे प्राणों का त्याग कर दिया तब उसकी तो कथा ही समाप्त हो गई। ऐसी स्वामिभक्त घोड़ी का यदि किसी ने स्मारक बनाया तो क्या और न बनाया तो उसे क्या! जब घर में एक दम से दो २ स्वजनों का चिरवियोग हो गया तब उस बिचारी की सुध लेनेवाला भी कौन? अस्तु तेजा के मातापिता, बंधुबांधव, नौकर चाकर जंगल जंगल ढूंढ़ते हुए उसी जगह जा पहुंचे जहाँ तेजा की, उसकी अर्द्धांगिनी बोडल की और साथही उस सर्प की राख का ढेर चिता-भस्म में मिल कर उनका नाम शेष रह गया था। थोड़ी सी हड्डियाँ और थोड़ी सी आग के सिवा वहाँ कोई नाम निशान नहीं। यदि तेजा और उसकी स्त्री का भस्मावशेष हो गया तो हो गया किन्तु उसके शस्त्रों के सिवाय ऐसी कोई चीज़ नहीं बची जिसे छाती से लगाकर उसके माता पिता अपना कलेजा ठंढा कर सकें। प्रियजनों की प्यारी वस्तु का उनके चिरवियोग के अनंतर दर्शन प्रियदर्शन नहीं है। उसे देखने से सुख के बदले दुःख होता है। बस यही दशा उसके मातापिता की हुई। "हाय तेजा! अरे प्यारे पूत! ओ बुढ़ापे की लकड़ी! हाय हमें मंझधार में डाल कर कहाँ चल दिया! हाय र! हे भगवान् हमें भी मौत दे दो।" कहते कहते दोनों बेहोश! वे दोनों इस तरह अचेत भी हुए और समय पाकर उन्हें होश भी आया। उन्होंने उस जगह दम्पती की अंत्येष्टि क्रिया की अथवा नहीं। दोनों की अस्थियाँ गंगा जी भेजी गईं अथवा नहीं सो कोई नहीं कह सकता किन्तु जब तेजा इतना पराक्रम दिखला कर, केवल सत्य के लिये अपनी बलि चढ़ा कर स्वर्ग को सिधारा था, जब उसकी अभिलाषा और नागराज की आज्ञा थी तब उस जगह चबूतरा बनवा कर उसपर उनकी मूर्त्ति स्थापित की गई और इस तरह इस दुःखान्त कथा की यहीं समाप्ति हो गई।

संस्कृत-साहित्य में 'दुःखान्त' नाटक दूषित समझा जाता है और मैं भी उसे पसंद नहीं करता हूं। 'दुःखान्त से दर्शकों अथवा पाठकों के अन्तः-

करण पर प्रभाव पड़ता है सही परंतु जिसके असर से हृदय काँपता रहे वह प्रभाव नहीं। भय की छाया है। और भय, शोक, और वेदना मनुष्य को कीट भृंग की नाईं उसी में गिरा देती है इसलिये दुःख के अनन्तर सुख होना चाहिये। मैंने अभी तक जो कुछ लिखा लिखाया है सब केवल इसी उद्देश्य से। परंतु यह नियम कल्पना के मनोराज्य में आसन पा सकता है। सत्य घटना में नहीं। और तेजा की जो कहानी है वह सत्य घटनामूलक है। बस इस लिये मुझे 'दुःखान्त' लिखने की लाचारी ग्रहण करनी पड़ी। अस्तु जो कुछ होना था सो हो गया। जब मुझे दुःखान्त लिखना ही इष्ट नहीं है तब इस पुस्तक के अन्तिम दृश्य को अधिक मर्मभेदी, विशेष हृदयद्रावक, शब्दों में दिखला कर पाठकों को चर्म-चक्षुओं से वा हृदय की आँखों से रुलाना भी अच्छा नहीं।

तेजा का परलोकवास भाद्र शुक्ला १० को हुआ। इसमें किसी तरह का संदेह नहीं। राजपूताना भर में इसी दिन तेजा दशमी के नाम से उत्सव होता है किन्तु उसके जन्म का दिन कौन और संवत् कौन था? इस बात का पता जब राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मुन्शी देवीप्रसाद जी को ही नहीं लगा तब मुझ अकिंचन को लगने की आशा क्या? हाँ! गानेवालों के कथन से विदित हुआ है कि संवत् १ की यह घटना है। परंतु यह एक किस शताब्दी का एक है सो किसी को मालूम नहीं। इसलिये इस "एक" का मालूम होना और न होना बराबर है। गत पृष्ठों के पढ़ने से इतना अनुमान होता कि जिस समय की यह घटना बतलाई जाती है उस समय राजपूताने बल्कि भारतवर्ष में भयानक अराजकता थी। किसी की जान और माल की ख़ैर नहीं थी। और यदि कोई कारण हो सकता है तो यही जिससे तेजा को उसकी माता ने पीहर में बहू जवान हो जाने पर भी उसका मुकाबला कराने के लिये नहीं जाने दिया। मुन्शी देवीप्रसाद जी की खोज से जब पर्वतसर (मारवाड़) में तेजा जी की मूर्त्ति के निकट संवत् १७९१ मिती भाद्रपद कृष्ण ६ शुक्रवार को महाराज अभयसिंह जी के राज्य में प्रधान भंडारी विजयराज का मूर्त्ति पधराकर प्रतिष्ठा करने का उल्लेख है तब यह तो निश्चय हो ही गया कि यह घटना संवत् १७९१ अर्थात् १८० वर्ष से पूर्व की है। कितने वर्ष पूर्व की? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये कुछ अटकल से काम लेना पड़ेगा। जो महाशय अपनी अटकल पर ज़ोर लगाकर परिणाम निकाला चाहें वे निकाल सकते हैं। मेरे अनुमान से यह घटना उस समय की होना चाहिये जब राजपूत-नरेशों की शक्ति नामशेष रह गई थी। वह समय औरंगज़ेब के शासन के लगभग है। अस्तु।

पुस्तक को समाप्त करने से पूर्व तेजा के जन्मस्थान का, उसकी ससुराल का और उस स्थल का जहाँ उसने आत्मविसर्जन किया पता लगाने की आवश्यकता है। मुन्शी देवीप्रसाद जी न मालूम किस आधार पर बतलाते हैं कि तेजा खड़नाल परगने नागोर राज्य जोधपुर का रहनेवाला था। किन्तु गानेवाले उसकी जन्मभूमि रूपनगर राज्य किशनगढ़ में बतलाते हैं। मैं गानेवालों के कथन से मुन्शी जी की खोज को विशेष प्रामाणिक मानता हूँ किन्तु एक ही बात से मुझे "खोज" पर सन्देह होता है। बात यह है कि तेजा के लिये जब स्मारक बनना मुन्शी जी पर्वतसर में स्वीकार करते हैं तब संभव नहीं है कि खडनाल छोड़ कर उसके माता पिता ने उसका चबूतरा इतनी दूर पर पर्वतसर में बनाया हो। गानेवाले तेजा का घर रूपनगर में बतलाते हैं और यहाँ से पर्वतसर दो तीन कोस से अधिक नहीं। बस इसलिये अधिक संभव यही है कि उसकी जन्मभूमि रूपनगर में थी।

ख़ैर कुछ भी हो पनेर के विषय में भी इसी तरह का मतभेद है। मुन्शी जी की खोज के अनुसार गाँव पनेर किशनगढ़ राज्य में बतलाया जाता है किन्तु न तो नक़शे के देखने से किशनगढ़ राज्य में किसी पनेर नामधारी गाँव का पता लगा और

न गानेवालों की बात पर ध्यान देने से यह बात अटकल के तराज़ पर तुल सकती है। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि गानेवालों के मत से तेजा को रूपनगर से गोकर्णेश्वर के निकट बनास पार करके पनेर जाना पड़ा था। राजमहल राज्य जयपुर में छावनी देवली के निकट गोकर्णेश्वर महादेव का सुप्रसिद्ध मंदिर है। इस बात पर विश्वास करने से पनेर का होना डुगारी के निकट कहीं आस पास पाया जाता है क्योंकि तेजाजी के मुख्य धामों में से एक डुगारी भी है। यह डुगारी बूँदी राज्य में है। मंदिर में शिलालेख नहीं इसलिए इस विषय में अधिक नहीं कहा जा सकता। हाँ, एक पनेर मेवाड़ राज्य में भी है। उसका नाम पंदेर है। यह बनास नदी के किनारे जहाजपुर से पश्चिम की ओर दो तीन कोस होगा। परन्तु इस जगह पहुँचने के लिए राजमहल के निकट बनास उतरने की आवश्यकता नहीं।

मुन्शी जी के अनुमान से तेजा को साँप डसने की घटना कहीं पनेर के आस पास की ही पाई जाती है और हाड़ोती के गानेवालों ने तेजा की पूजा के पर्वतसर, उकलाना और डुगारी—ये तीन मुख्य पीठ बतलाने के सिवा किसी ख़ास जगह का पता नहीं दिया है। संभव है कि यह जगह उकलाना हो। परन्तु उकलाना किस राज्य में है सो अभी तक मालूम नहीं हो सका। रूपनगर से पनेर जाते समय गानेवालों ने तेजा के लिए जो मार्ग बतलाया है उसपर ग़ौर करने से निश्चय होता है कि जाती बार जिस जगह उसे साँप के दर्शन हुए थे वह बनास नदी और रूपनगर के बीच में है। साँप ने तेजा को अपने रहने का जो स्थान बतलाया उस जगह ऊँचे और नीचे चौरे बतलाये गये हैं। चौरे रणभूमि में काम आनेवाले वीर पुरुषों के लिए अथवा राजा तथा राजपुरुषों के लिए बनवाये जाते हैं। पता लगानेवाले उकलाने की खोज करते समय यदि जाँचना चाहें तो इसे भी देख सकते हैं।

मुन्शी देवीप्रसादजी की खोज के अनुसार तेजा के आत्मविसर्जन का स्थान पनेर है और इसी लिए वहाँ तेजा का पूजन भाद्रपद शु० १० को होता था किन्तु किशनगढ़ राज्य के हासिल (?) से कष्ट पाकर मारवाड़ के जाट और गूजर पनेर से तेजा की मूर्त्ति उखाड़ कर पर्वतसर ले गये। वहाँ अब बड़ा भारी मेला होता है और गाय बैलों की बिक्री होती है। संभव है कि यह बात सत्य हो परन्तु जब पर्वतसर और रूपनगर का फासला केवल २ या ३ कोस है तब रूपनगर से उखाड़ ले जाने और ससुराल पनेर की होने से उसके नाम की अटकल लगाई गई हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। अब यों तो तेजा दशमी का मेला बड़े बड़े गाँवों में सब जगह होता है किन्तु पर्वतसर, केकड़ी और डुगारी--ये तीन स्थान मुख्य हैं। यहाँ मेले के व्याज से ख़ूब व्यापार भी होता है।

तेजा का चरित्र समाप्त करने से पूर्व अब एक ही बात शेष रह गई है। उसके चरित्र में चमत्कार भी है और उत्कृष्ट गुणों का समुदाय भी। जो चमत्कार के उपासक हैं वे राजपूताना के लाखों आदमी अपने अटल विश्वास से उसकी भक्तिपूर्वक पूजा करके सर्पदंश के भय से मुक्त होते हैं। सर्पदंश के प्राणान्तकारी विष के लिए यदि राजपूताने में कोई औषध है तो तेजाजी की डसी और मंत्र है तो उसका नाम। ख़ैर जो इस प्रकार के अलौकिक चमत्कार के उपासक हैं वे प्रसन्नता से उसकी पूजा करके अपने, अपने स्वजनों के और सर्वसाधारण के प्राणों की रक्षा करें। आज कल के अविश्वास और अश्रद्धा के ज़माने में जब हैदराबाद के निज़ाम स्वर्गवासी महबूबअली ख़ाँ साहब के नाम लेने से सर्पविष दूर हो सकता था तब तेजस्वी तेजा के नाम से क्यों न हो! किन्तु मैं चमत्कार का उपासक नहीं। गुणों का पूजक हूँ। तेजा ने अपने उत्कृष्ट चरित्र से साबित कर दिया है कि कैसे एक क्षुद्रातिक्षुद्र मनुष्य भी अपनी आत्म-शक्ति से, अपना आत्मविसर्जन करके अपने सर्वस्व और प्राणों की बलि चढ़ाकर मनुष्य से देवता बन सकता है। "नर से नारायण" बनने के विशाल उद्योग का यह एक छोटा सा नमूना है।

तेजा सचमुच ही प्रतिज्ञापालन, सत्यनिष्ठा ग्रैार परोपकार का आदर्श था। एक खेतिहर अपढ़ जाट होने पर भी क्षत्रियत्व उसके अन्तःकरण में ठसाठस भरा हुआ था। यदि उसके मन में पराक्रम की परिसीमा न होती, यदि उसका अंतःकरण परोपकार व्रत का व्रती न होता तो वह कभी डेढ़ सौ आदमियों से अकेला न भिड़ पड़ता। यदि उसे अपनी जान प्यारी होती तो "काने बछड़े" को छुड़ा लाने के लिए दुबारा क्यों जाता? यदि उसका शरीर ग्रैार उसका अंतःकरण सत्यनिष्ट न होता तो अपनी प्रतिज्ञा पालने के लिए साँप के पास जाकर अपने प्राणों की पूर्णाहुति ही क्यों करता? उसका प्राणान्त करने का प्रधान कारण गूजरी माना थी। उसी ने उसे मरवाया परन्तु उसने हँसकर उसका स्वागत करने के सिवा उसकी इच्छा पूर्ण करने के अतिरिक्त एक शब्द भी उसके लिए बुरा नहीं कहा। ससुरालवालों के निरादर को वह ज़हर के घूँट की तरह पी गया। जैसा असाधारण चरित्र तेजा का था वैसी ही उसकी अर्द्धांगिनी निकली। केवल हथलेवे के सिवा पति का कभी संपर्क न होने पर भी ग्रैार जाटों में धरेजे की चाल होने पर भी बोडल उसकी सहगामिनी हुई। पातिव्रत का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

यदि देशी विद्वान् परंपरा से बाप दादे की धरोहर में मिलनेवाले इतिहास की खोज करके उसे ज़बानी से लेखबद्ध करना चाहें तो तेजा ऐसे क्या उससे भी बढ़कर सत्पुरुषों, महात्माओं ग्रैार महावीरों के हज़ारों ही प्रातःस्मरणीय चरित्र मिल सकते हैं। भारतवर्ष के आधुनिक इतिहास पर एक नई रोशनी पड़ सकती है। खोजनेवाला चाहिए। इस देश का ऐसा कोई गाँव न होगा अथवा ऐसा कोई कुटुँब न होगा जिसका कुछ इतिहास न हो। जिसके इतिहास में किसी न किसी तरह की विशेषता न हो। वह दिन सचमुच ही देश के लिए शुभ दिवस होगा जब इस बात की खोज होने लगेगी। परमेश्वर विद्वानों को ऐसी ही सुबुद्धि प्रदान करे।

—:०:—

जम्बू-राजवंश।

(पूर्व प्रकाशित से आगे।)

गुलाबसिंह ने बड़े ठाट बाट से लाहौर नगर में प्रवेश किया ग्रैार नगरनिवासियों द्वारा उनका बहुत अच्छा स्वागत हुआ। उन्हें देखने के लिए कोठों ग्रैार छतों पर बड़ी भीड़ हुई थी ग्रैार सब लोग ईश्वर से गुलाबसिंह के कल्याण की प्रार्थना करते थे। लोगों ने उन्हें स्वर्गीय कुवँर नैानिहालसिंह के मकान में जा उतारा; पर वहाँ उनपर कड़ा पहरा बैठा दिया गया था। इस गारद के सिपाहियों को गुलाबसिंह की सेना ने एक बार जम्बू में बुरी तरह परास्त किया था। इस गारद को यह आज्ञा मिली थी कि दीवान के अतिरिक्त ग्रैार किसी को गुलाबसिंह के पास न जाने दिया जाय। उस मकान में उतरते ही दीवान ने एक कूएँ से पानी खींचना चाहा पर लोगों ने उसे रोक दिया। दूर से एक बुढ़िया यह दृश्य देख रही थी; उसने उसे तुरंत बुलाकर उसके तथा महाराज के लिए जल ग्रैार भोजन दिया। दीवान ने उसी समय बीबी साहबा के दरबार में जाकर कहा—"यदि कोई अपराधी दंडित भी कर दिया जाय तो भी उसे भोजन ग्रैार जल देने का नियम है; पर गुलाबसिंह को—जो केवल हरासत में हैं—भोजन क्या, बैठने के लिए बिस्तर तक न मिला।" उसी समय बीबी साहबा ने आज्ञा दी कि गुलाबसिंह के लिए सब आवश्यक पदार्थों का प्रबंध कर दिया जाय। यद्यपि वहाँ के दरबारी गुलाबसिंह से अप्रसन्न थे ग्रैार उनका अनिष्ट चाहते थे तथापि उन्हें इस बात का भय अवश्य था कि यदि उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँची तो खालसा सेना कदाचित् कोई उपद्रव खड़ा कर देगी। वहाँ गुलाबसिंह के विरुद्ध दिन भर जितनी बातें होती थीं उन सब की सूचना उन्हें दीवान द्वारा मिल जाती थी। एक दिन उन्होंने दीवान

से सुना कि दरबार के लोग उनके छिपे हुए ख़ज़ाने का पता लगाने के लिए उनके दीवान ग्रैार वज़ीर ज़ोरावरसिंह पर कुछ अत्याचार करने का विचार कर रहे हैं। इसपर महाराजा ने दीवान को जम्बू भेज दिया। उसी समय दीवान ने उनके सामने प्रण किया था कि चाहे प्राण चले जायँ पर मैं किसी को ख़ज़ाने का पता न बताऊँगा। एक बार दरबारियों ने यह भी विचार किया था कि स्वयं गुलाबसिंह पर अत्याचार करके उनसे ख़ज़ाने का पता पूछा जाय। खालसा सैनिक इन बातों की सूचना पाकर बहुत अप्रसन्न हुए। इस पर रत्नसिंह ने राजा लालसिंह को सम्मति दी कि वे किसी न किसी प्रकार गुलाबसिंह को मुक्त कर दें नहीं तो खालसा सेना कुछ उपद्रव करेगी। उसी अवसर पर दीवान दीनानाथ ने भी यह सूचना दी कि सैनिक उन्हें धमकाते ग्रैार गुलाबसिंह को मुक्त कर देने के लिए कहते हैं। इन बातों से दरबार के लोग बहुत चिंतित हुए। सेना को शान्त रखने के अभिप्राय से सरदार ज़ोरावरसिंह ने यह प्रबंध किया कि एक दिन मियाँमीर के मैदान में महाराज दलीपसिंह खालसा सेना का निरीक्षण करें। उस अवसर पर सेना ने गुलाबसिंह को मुक्त करने की बात उठाई। सैनिकों के हृदय में उनके लिए बहुत आदर था ग्रैार उन लोगों ने गुलाबसिंह को लाहैार लाते समय उन्हें इस बात का वचन दिया था कि वे सब प्रकार से उनकी रक्षा करेंगे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि सेना ने उसी स्थल पर जवाहिरसिंह को मार डालने ग्रैार दलीपसिंह को हाथी पर से नीचे खींच लेने की धमकी दी। इसलिए दलीपसिंह को विवश होकर गुलाबसिंह के निवास-स्थान से पहरा उठा लेना पड़ा। दूसरे दिन उन्होंने गुलाबसिंह को अपने दरबार में बुलवाया ग्रैार उनसे पूछा कि राजा सुचेतसिंह ग्रैार राजा हीरासिंह की धन-सम्पत्ति कहाँ है? उस अवसर पर दलीपसिंह ग्रैार उनके दरबारियों ने गुप्त रूप से ऐसा प्रबंध कर रखा था कि इशारा होते ही गुलाबसिंह का बध हो सके। गुलाबसिंह भी यह बात भली भाँति जानते थे। पर उस दिन वह बात बढ़ी नहीं ग्रैार गुलाबसिंह दरबार से सकुशल लैाट आये। इसके उपरांत एक दिन वह सूर्योदय के समय स्नान करके ग्रैार केसर का टीका लगा कर दरबार में गए। उस समय वहाँ सरदार जवाहिरसिंह, लालसिंह, श्यामसिंह तथा अन्य बड़े बड़े दरबारी बैठे हुए थे। गुलाबसिंह को इस रूप में देखकर सब लोग बहुत चकित हुए। गुलाबसिंह ने उन लोगों से कहा,—"मैंने स्वर्गीय महाराज रणजीतसिंह की बहुत सेवा की है ग्रैार उनके लिए अनेक लड़ाइयाँ लड़ी हैं। पर इस समय लोग मेरे विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हैं ग्रैार मेरा बध करने के लिए गुप्त रूप से हत्यारों को नियुक्त करते हैं। यदि मेरे विरोधियों में से कोई वास्तविक योद्धा ग्रैार वीर हो तो वह इस समय मेरे सामने आवे ग्रैार मुझसे लड़े। यदि एक का साहस न पड़े तो दो आदमी मिलकर मेरा सामना करें। मैं अपने रक्त से दरबार की भूमि रंग दूँगा ग्रैार यहाँ के उपस्थित लोगों में से एक को भी जीता न छोड़ूँगा।" दरबारी भली भाँति जानते थे कि गुलाबसिंह बहुत वीर आदमी हैं, इसलिए उन्होंने उनकी बात का कोई उत्तर न दिया ग्रैार चुप रहना ही अधिक उत्तम समझा। ग्रंत में सब लोगों ने गुलाबसिंह से क्षमा-प्रार्थना भी की ग्रैार सदा उनके शुभचिंतक बने रहने के लिए शपथ खाई।

इसके उपरांत एक बार शरबत में हीरे की कनियाँ डालकर भी गुलाबसिंह के प्राण लेने का प्रयत्न किया गया था, पर उन्हें यह बात पहले ही मालूम हो गई थी, इसलिए उन्होंने शरबत न पीकर केवल बरफ़ का पानी पीया था। एक दूसरे अवसर पर दरबार से रजावड़ी के रहमउल्लाखाँ ग्रैार सुलतानखाँ के पुत्र फैजतलब को सड़क पर खड़े रहने ग्रैार दरबार से लैाटते हुए गुलाबसिंह को गोली मार देने की आज्ञा मिली थी। तदनुसार एक बार ग्रंधेरी रात में वे लोग दो सैा आदमियों को अपने साथ लेकर गुलाबसिंह की घात में एक

स्थान पर छिप रहे। पर उस दिन दरबार से उठकर गुलाबसिंह किसी साधु के पास चले गए थे और बहुत देर तक उसी से बातें करते रह गए थे। उस समय उनका दीवान दूसरे मार्ग से घर चला गया था। जब बहुत अधिक रात बीत गई तो फैजतलब और रहमउल्लाख़ाँ के साथी निराश होकर चलते बने। थोड़ी देर पीछे गुलाबसिंह अपने दलबल सहित वहाँ पहुँचे और षड्यंत्र के कुछ लक्षण देखकर उन्होंने सबका पीछा किया और उनमें से कुछ लोगों को पकड़ कर उनसे सब भेद जान लिया। दूसरे दिन प्रातःकाल गुलाबसिंह ने उन लोगों को साथी बना कर अपने दीवान के साथ दरबार में भेज दिया। दीवान ने वहाँ लोगों को सब समाचार सुना दिया। सब दरबारियों ने कानों पर हाथ रखे और इस षड्यंत्र से अनभिज्ञता प्रकट की। अंत में दीवान के कहने पर निश्चय हुआ कि गिरिफ़्तार किए हुए लोग कहीं दूर भेज दिए जायँ और तदनुसार वे लोग हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ पहना कर गोविंद-गढ़ भेज दिए गए।

उधर सरदार जवाहिरसिंह और राजा लालसिंह में बहुत वैमनस्य हो गया था। लोग यह भी समझते थे कि यदि गुलाबसिंह इन दोनों में से किसी का भी पक्ष ले लेंगे तो झगड़े की समाप्ति असंभव हो जायगी। गुलाबसिंह के शुभचिंतक सरदार मुहम्मदख़ाँ ने अवसर पाकर राजा लालसिंह को स्मरण दिला दिया कि गुलाबसिंह—जिनकी योग्यता के कारण खालसा सेना उनपर मुग्ध हो रही है,—बहुत दिनों से लाहौर में ठहरे हुए हैं; बहुत संभव है कि आगे चलकर किसी प्रकार का उत्पात खड़ा हो, इसलिए उन्हें जम्बू जाने के लिए मुक्त कर देना ही अधिक उत्तम होगा। तदनुसार जम्बू जाने के लिए गुलाबसिंह मुक्त कर दिए गए; पर उन्होंने कहा कि जब तक मेरी ज़ब्त की हुई जागीरें परवानों सहित मुझे न मिल जायँगी तब तक मैं यहाँ से न हिलूँगा। अंत में उन्हें सब जागीरें मिल गईं और वह सकुशल जम्बू लौट गए। वहाँ सारी प्रजा ने बड़ी प्रसन्नता से उनकी अभ्यर्थना की। पर उनकी अनुपस्थिति से लाभ उठा कर कुछ दुष्टों ने राज्य में उपद्रव मचा रखा था। राज्य के कई अधिकारियों की शह पाकर किश्तवार नामक स्थान के ज़मींदारों ने प्रजा को बलवा करने के लिए भी भड़काया था। यूसुफख़ाँ नामक एक व्यक्ति ने, जिसके साथ गुलाबसिंह ने बहुत उपकार किए थे, उन उपकारों को भुलाकर, किश्तवार के भूतपूर्व राजा तेगसिंह के विद्रोही पुत्र दिलावरसिंह से मिल कर दूध नामक क़िले को, जिसमें गुलाबसिंह की फ़ौज थी, चारों ओर से घेर लिया था; पर अंत में गुलाबसिंह की सेना ने उनको मार भगाया। रामनगर में रणधीर-सिंह पर भी आक्रमण किया गया था; उस समय स्वर्गीय राजा सुचेतसिंह के वज़ीर निहालसिंह खालसा सेना सहित वहीं थे। पुंछ के क़िले में दीवान करमचंद को भी विद्रोहियों का सामना करना पड़ा था। जसरौटा प्रांत पर विद्रोहियों का अधिकार भी हो गया था। तात्पर्य्य यह कि जिस समय गुलाबसिंह लाहौर में नज़रबंद थे उस समय बहुत से सरदारों ने उनका राज्य दबा लेने की चेष्टा की थी; पर गुलाबसिंह ने वहाँ से लौटते ही सबको निकाल बाहर किया।

उन दिनों जिस सरदार को आवश्यकता होती थी वह धन का लोभ देकर अपना काम निकालने के लिए खालसा सेना को अपनी ओर मिला लेता था। इस प्रकार काम निकालनेवालों के उदाहरण सिंधनवालिए सरदार, राजा सुचेतसिंह और राजा हीरासिंह हैं। महाराज रणजीतसिंह के एक पुत्र महाराज पिशौरासिंह जब स्यालकोट में कोई उपद्रव न खड़ा कर सके तो आगे बढ़ कर अटक पर अपना अधिकार जमा बैठे। पर छतरसिंह और फतेहख़ाँ नामक दो सरदारों ने कुछ उपाय करके उन्हें वहाँ से हटा दिया। इन दोनों सरदारों ने पहले पिशौरासिंह के सामने यह भी शपथ खाई थी कि वे उन्हें कोई हानि न पहुँचावेंगे। इसके बाद उन दोनों ने जवाहिरसिंह की आज्ञा से पिशौरासिंह को मार डाला। इस पर खालसा सेना बिगड़ खड़ी हुई और

जवाहिरसिंह के बध पर उतारू हो गई; साथ ही उसने राजा लालसिंह, राजा दीनानाथ और बख़्शी भगतराम को अपनी हिरासत में कर लिया। सरदार जवाहिरसिंह अपनी एक सेना को साथ ले कर सेना का निरीक्षण करने और महाराज दलीपसिंह से मिलने के लिए मियाँमीर गए; वहाँ पर खालसा सेना ने महाराज को खींच कर हाथी पर से उतार लिया और जवाहिरसिंह को छुरियों से वहीं मार डाला।

इस घटना के उपरांत खालसा सेना ने महाराज गुलाबसिंह को बुलाने के लिए एक एक करके कई दूत जम्बू भेजे, पर महाराज ने सबों को कुछ न कुछ बहाना करके टाल दिया। लाहौर-सरकार को उस सेना से बहुत भय था, क्योंकि बीबी-साहब चंदाँ अपने भाई के बध का बदला लेना चाहती थीं और सेना को अपनी तनख़्वाह बढ़वाने तथा दूसरी बातों के लिए भड़का रही थीं। उन्होंने सेना से यह भी कह रक्खा था कि अंगरेज़ लोग सतलज के इस पार, पंजाब पर भी चढ़ाई करना चाहते हैं। इस पर खालसा सेना फूल कर कुप्पा हो गई थी। एक अवसर पर जब कि उसके अफ़सर शालाबाग में परस्पर कुछ मंत्रणा कर रहे थे, खालसा सेना अपनी मियाँमीर की छावनी से निकल कर सीमा-प्रांत की ओर चल पड़ी। राजा लालसिंह भी इस विषय में उनसे सहमत थे, पर और लोग कई कारणों से इसके विरुद्ध थे। खालसा सेना अपना ही देश लूटती और नष्ट करती हुई सतलज के किनारे तक आ पहुँची। उधर बीबी साहबा ने अपना षड्यंत्र पूरा करने के लिए महाराज गुलाबसिंह को लिख दिया कि आप पेशावर जा कर उस प्रांत का प्रबंध करें। पर महाराज ने उत्तर में उन्हें लिख भेजा कि मैं अँगरेज़ों के साथ की हुई मित्रता की संधि नहीं तोड़ सकता क्योंकि इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। इसके उत्तर में बीबी साहबा ने उनकी बहुत प्रशंसा की और खालसा अफ़सरों के नाम एक घोषणा-पत्र निकाला जिसमें लिखा था कि अँगरेज़ अधिकारी संधि तोड़ना नहीं चाहते और उनपर अकारण आक्रमण करना अनुचित होगा। पर मूर्ख और उद्दंड सिखों ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वे सतलज नदी के पार चले गये। जब उन्हें सूचना मिली कि फ़ीरोज़पुर की रक्षा के लिए लोधियाने से अँगरेज़ी सेना चल चुकी है तो उन लोगों ने उसका सामना करना निश्चय किया। गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंज के एजेण्ट मेजर ब्राडफूट ने इन कार्रवाइयों की सूचना उक्त लाट महोदय को दी। इस पर लाट साहब ने लार्ड गफ़ को कूच करने की आज्ञा दी। लार्ड गफ़ के अधीन सेना ने मुदकी में सिखों का सामना किया। युद्ध में सिखों ने ख़ूब वीरता दिखलाई पर अंत में उन्हें अपना सारा सामान वहीं छोड़कर भागना पड़ा। उनके नायक राजा लालसिंह भी भाग गए और उनका कोई पता नहीं मिला। इस पराजय के उपरांत खालसा सेना के अधिकारियों ने एक सभा की और उनमें से कुछ लोग सम्मति लेने के लिए महाराज गुलाबसिंह के पास भी गए। महाराज ने उनसे कहा कि अभी कोई चिंता की बात नहीं है; इस समय सेना जहाँ है, वहीं ठहरी रहे। पर खालसा सेना ने इस सम्मति पर कुछ भी ध्यान न दिया और एक पुल बना कर नदी पार की और दूसरी ओर जाकर छावनी डाली। सरदार रणछोड़सिंह ने, जो उस समय दुआब में सेना एकत्र कर रहे थे, वहाँ पहुँच कर सतलज के किनारे फिलौर में अपनी छावनी डाली। खालसा सेना ने आवेश में आकर लोधियाना छावनी में आग लगा दी। लाडवा के राजा भी अपनी सेना सहित आ कर सरदार रणछोड़सिंह के साथ मिल गए। उधर महाराज पटियाला ने अँगरेज़ों को सहायता दी। लाहौर-सरकार की आज्ञा से अपनी अपनी सेना सहित सरदार तेजसिंह तथा लालसिंह मुरारिया, जो उन दिनों लाहौर सरकार की ओर से जसरौटा का इंतज़ाम कर रहे थे, आकर खालसा सेना में मिल गए। राजा लालसिंह भाग कर

दुआब में जा छिपे थे और लज्जा के कारण किसी को अपना मुँह तक न दिखाते थे। जब उनका पता लगा तब लाहौर-सरकार ने उन्हें भी खालसा सेना की सहायता करने की आज्ञा दी और तदनुसार वे भी जाकर उसमें सम्मिलित हो गए।

ऊपर कहा जा चुका है कि खालसा सेना के कई अफ़सर महाराज गुलाबसिंह की सम्मति लेने तथा उन्हें युद्ध-स्थल में उपस्थित होने का निमंत्रण देने के लिए जम्बू गए थे। एक दिन उन अफ़सरों ने मूर्खता और घमंड में आकर महाराज के सामने अपने पूर्वजों का बनाया हुआ एक पंजाबी पद पढ़ा जिसका अभिप्राय यह था कि खालसा सेना कभी न कभी दिल्ली के तख्त पर बैठेगी। इस पर महाराज ने कहा कि समझ में नहीं आता कि लगभग एक लाख आदमियों की खालसा सेना इतने छोटे से तख्त पर किस प्रकार बैठ सकेगी। इस पर सब उपस्थित सरदार मुसकरा पड़े। गुलाबसिंह ने उन लोगों का आदर सत्कार तो यथेष्ट किया पर उनका निमंत्रण स्वीकार करने में अनेक प्रकार की आना-कानी की। बीच बीच में वह भगवती के दर्शनों के लिए रियासी भी चले जाते थे; कभी वह पुरमंडल में जा रहते थे और कभी अशुभ मुहूर्त्त का बहाना कर देते थे। असल बात यह थी कि वह बिना बीबी साहबा का निमंत्रण पाए युद्ध में सम्मिलित होना नहीं चाहते थे। अंत में बाबा महानसिंह और दीवानसिंह बीबी साहबा की ओर से उन्हें रण में सम्मिलित होने का निमंत्रण देने के लिए आ ही पहुँचे। इसी बीच में उन्होंने एडवर्ड लेक साहब को भी एक पत्र लिख भेजा था जिसका केवल ज़बानी उत्तर उन्हें यह मिला कि—"जो आदमी ऊँचे पहाड़ पर चढ़ना चाहता है उसे प्रातःकाल ही प्रस्थान कर देना चाहिए।" इस पर गुलाबसिंह ने खालसा सेना के अधिकारियों को एक परवाना भेज कर उन्हें अपने स्थान पर ठहरे रहने की सम्मति दी और स्वयं सेना सहित लाहौर की ओर प्रस्थान किया। लाहौर पहुँच कर उन्होंने रावी के किनारे डेरा डाला। राजा दीनानाथ, भाई रामसिंह तथा अन्य बड़े बड़े सरदारों ने राज्य की ओर से उनका स्वागत किया। इसके उपरांत दरबार में उन्हें बीबी साहबा की ओर से एक भारी खिलअत और वज़ीर की उपाधि मिली। गुलाबसिंह ने सेना के अधिकारियों के नाम तुरंत एक परवाना भेज कर उन्हें शांत रहने की आज्ञा दी। पर उधर सरदार रण-छोड़सिंह मजीठिया ने सतलज पार करके युद्ध आरम्भ कर दिया था जिसमें दोनों ओर के बहुत से लोग मारे जा चुके थे। इस युद्ध में यद्यपि सिख लोग परास्त हो गए थे तो भी उन्होंने उन्नीस युरोपियनों को क़ैद कर लिया था। इसलिए गुलाबसिंह ने अंगरेज़ अधिकारियों से एक पत्र लिख कर क्षमा माँगी और उन्हें विश्वास दिलाया कि महाराज दलीपसिंह के अल्पवयस्क होने के कारण मूर्खता-वश अंगरेज़ों पर आक्रमण हुआ था; साथ ही उन्होंने यह भी प्रार्थना की कि महाराज रणजीतसिंह के साथ अंगरेज़ों की जो मित्रता की संधि हुई है वह बनी रहनी चाहिए। यह पत्र लाला चुन्नीलाल और लाला अनंतराम के द्वारा सर हेनरी लारेन्स के पास भेजा गया था जिसके उत्तर में उन्होंने ११ फरवरी १८४६ को फ़ीरोज़पुर की छावनी से लिख भेजा था कि सिख-राज्य को नष्ट करने का विचार आन० ईस्ट इण्डिया कम्पनी का नहीं है; पर वह उन आक्रमणों को अवश्य रोकना चाहती है जो सिख सेना चार बार पराजित हो चुकने पर भी अब तक कर रही है। और यदि भविष्य में इन विद्रोहियों को दण्ड देने की आवश्य-कता हुई तो सिख-सरकार को उसका उत्तरदायी होना पड़ेगा। पर इस पत्र के लिखे जाने से पहले ही अंगरेज़ी सेना ने प्रातःकाल के समय सिखों पर छापा मारा था। सिख सेना के नायक सरदार तेजासिंह ने अपने साथियों को भागते हुए देखा तब उन्हें रोकने के लिए, भागने के मार्गवाला पुल तुड़वा दिया, तिस पर भी बहुत से सिख नदी में कूद कर मर गये। सरदार श्यामसिंह अटारीवाले ने युद्ध में

वीरतापूर्वक लड़कर अपने प्राण दिये। पर राजा लालसिंह को अंगरेज़ी सेना का सामना करने का साहस न हुआ और वह चुपचाप एक कोने में बैठे रहे। उसी अवसर पर १३ फरवरी सन् १८४६ को मेजर (सर हेनरी) लारेन्स ने गुलाबसिंह को एक पत्र भेजकर उनसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की और इसके लिए उन्हें उचित प्रबंध करने के लिए कहा।

इस प्रकार पंजाब में विजय प्राप्त करके अंगरेज़ी सेना ने लाहौर के निकट डेरा डाला और बड़े लाट ने एक घोषणापत्र प्रकाशित किया। इस घोषणा-पत्र का आशय यह था कि अंगरेज़ों ने सिखों को कई युद्धों में परास्त किया है और उनसे २२० से अधिक तोपें छीन ली हैं। इन युद्धों का कारण यह था कि सिखों ने सन् १८०९ वाली संधि की धाराओं का अतिक्रमण किया था। इसलिए जब तक सिख लोग अंगरेज़ों को हरजाना न देंगे और संतोषजनक निबटारा न करेंगे तब तक अंगरेज़ लोग पंजाब खाली न करेंगे। यद्यपि अंगरेज़ सरकार अपने राज्य की सीमा बढ़ाना नहीं चाहती तथापि भविष्य की अधिक रक्षा के लिए वह लाहौर की सरहद का कुछ हिस्सा अपनी सरहद में मिला लेना चाहती है जिसमें सतलज और व्यास के बीच के ज़िले और कुछ पहाड़ी ज़िले सम्मिलित हैं। इन जिलों का दाम सिख-सरकार हरजानों की उस रकम में से काट ले जो वह अंगरेज़ों को देगी। अंत में वह महाराज रणजीतसिंह के लड़कों में से एक को पंजाब के राज्यासन पर बैठाना चाहती है। पर यदि भविष्य में और कोई उत्पात खड़ा होगा तो अंगरेज़ों को फिर उसे दमन करने की आवश्यकता पड़ेगी।

इधर महाराज गुलाबसिंह ने उन अंगरेज़ों को, जिन्हें सिख सेना ने युद्ध में बंदी किया था, भारी भारी खिलअतें दीं और उन्हें हाथियों पर चढ़ा कर बहुत से सिपाहियों के साथ कसूर की छावनी में भेज दिया। इसके उपरांत महाराज ने भाई रामसिंह, दीवान दीनानाथ, फ़क़ीर नूरउद्दीन तथा अन्य बड़े बड़े दरबारियों और सरदारों से शांति और संधि के विषय में सम्मति ली और सब बातें निश्चय कर लीं। अंत में बीबी साहबा से भी सम्मति माँगी गई। वह भी महाराज के निश्चय से सहमत हो गईं और उन्होंने तुरंत अपनी खास मोहर और सब कार्रवाइयों के हस्ताक्षर सहित उस संबंध में एक परवाना निकाला। तदुपरांत दीवान दीनानाथ, फ़क़ीर नूर-उद्दीन, दीवान देवीसहाय तथा अन्य बड़े बड़े सरदारों और पाँच सिख पलटनों को अपने साथ लेकर अंगरेज़ों से मिलने के लिए रवाना हुए। इन पलटनों के प्रत्येक सिपाही को उन्होंने पाँच पाँच रुपये दिए थे। पर यह सिपाही बड़े उद्दंड और स्वेच्छाचारी थे, इसलिए पुराने नौशहरा तक पहुँचते पहुँचते महाराज के साथ केवल एक पलटन बाकी रह गई। वहाँ से चल कर वह लोग बड़े लाट के पास कसूर पहुँचे। जब कसूर एक कोस रह गया तो समाचार पाकर सर हेनरी लारेन्स जो उस समय नेपाल के रेसिडेण्ट थे, उनका स्वागत करने और उन्हें बड़े लाट के डेरे तक ले चलने के लिए आए। बड़े लाट के निवास-स्थान तक पहुँचने पर चीफ़ सेक्रेटरी सर फ़्रेडरिक करी उन्हें लाट साहब के खेमे तक ले गए। लाट साहब स्वयं खेमे से बाहर आकर, गुलाबसिंह से हाथ मिलाकर उन्हें अंदर ले गए। भीतर आकर सब लोगों के बैठने पर महाराज ने उन्हें भली भांति समझा दिया कि सिख सेना क्यों इतनी उद्दंड और ख़राब हो गई है। इसके उपरांत उन्होंने शांति और संधि की बात चलाई। इस पर बड़े लाट ने कहा कि यदि सिख-सरकार हरजाने के दो करोड़ रुपए और दुआब प्रांत अंगरेज़ों को दे दे तो यह झगड़ा तै हो सकता है। पर गुलाबसिंह ने कहा कि इतना अधिक धन संग्रह करना असम्भव है। इस पर सर फ़्रेडरिक करी और सर हेनरी लारेन्स उन्हें एक ओर एकांत में ले गए और उनसे कहने लगे—इन झगड़ों में आप के भाइयों तथा अन्य कई संबंधियों के प्राण चले गए हैं; इसलिए सिख राज्य का इतना समर्थन करने की आपको कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त बड़े लाट आपको कोहिस्तान और काशमीर का राज्य देकर स्वतंत्र बनाना

चाहते हैं और महाराज की पदवी से विभूषित किया चाहते हैं। गुलाबसिंह ने उत्तर दिया कि बड़े लाट की इच्छा ही आज्ञा स्वरूप है पर मेरे संबंधियों के प्राण देने का कारण यह है कि वे सिख-सरकार के सेवक थे। महाराजा दलीपसिंह अभी नाबालिग़ हैं और बड़े लाट से संधि करने के लिए मैं भेजा गया हूँ। ऐसे अवसर पर यदि मेरी शक्ति और स्वतंत्रता की वृद्धि हो भी तो इससे मेरी और मेरे उत्तराधिकारियों की प्रतिष्ठा में सदा के लिए बट्टा लग जायगा। अतः मेरी प्रार्थना है कि स्वर्गीय महाराज रणजीतसिंह के साथ की हुई संधि का बड़े लाट सदा ध्यान रक्खें; क्योंकि सेना के इन अनुचित कृत्यों में बालक दलीपसिंह का कोई दोष नहीं है। उक्त दोनों महाशयों ने यह बातें बड़े लाट से कहीं। इस पर बहुत रात तक संधि की बातें होती रहीं और अंत में निश्चय हुआ कि सिख-सरकार हरजाने का डेढ़ करोड़ रुपया देने के अतिरिक्त दुआब प्रांत भी अँगरेज़ों के लिए छोड़ दे। गुलाबसिंह ने भी दुआब प्रांत और पचास लाख रुपया तत्काल और शेष एक करोड़ तीन किश्तों में देना स्वीकार किया। इसके उपरांत बड़े लाट ने दलीपसिंह से भेंट करने की इच्छा प्रकट की; तदनुसार गुलाबसिंह ने इस आशय का एक पत्र बीबी-साहब के नाम भेज दिया। दूसरे ही दिन महाराज दलीपसिंह वहाँ आ पहुँचे। उनके आने पर अँगरेज़ी छावनी में सलामी सर हुई और बड़े लाट ने दलीपसिंह और गुलाबसिंह को खिलअतें दीं।

अँगरेज़ी सेना के पहलेपहल लाहौर नगर में प्रवेश करने पर गुलाबसिंह ने पहले तो कुछ आपत्ति की पर अंत में वह सहमत हो गए; क्योंकि अँगरेज़ों ने कह दिया था कि हरजाने की पहली किश्त के पचास लाख रुपए मिलते ही हम लोग नगर से निकल जायँगे। इसके उपरांत बीबी साहबा ने लालसिंह को ठीक करके अँगरेज़ अधिकरियों के पास इस आशय का एक पत्र भेजा कि गुलाबसिंह को कोई अधिकार नहीं है और हमारे वकील और संधि करनेवाले लालसिंह ही हैं। तदनुसार लालसिंह उक्त धनके जमानतदार हुए; उन्होंने अँगरेज़ी सेना के लाहौर नगर में ठहरने और रसद आदि का प्रबंध कर दिया और एक करोड़ रुपए के बदले में ब्यास नदी के दूसरे ओर के जिले, काँगड़ा, कोहिस्तान, काशमीर, हजारा और चंबा सदा के लिए अँगरेज़ों को दे दिये। इस प्रकार मानों जम्बू तथा गुलाबसिंह के अन्य अधिकृत प्रांत भी अँगरेज़ों के हाथ लगे। इस पर गुलाबसिंह को बहुत अधिक आश्चर्य हुआ और उन्होंने दीवान ज्वालासहाय को तुरंत सर हेनरी लारेन्स के पास भेजा। इससे पूर्व ही एक बार पेशावर में सर लारेन्स से उनकी भेंट हो चुकी थी। सर लारेन्स ने पर राष्ट्र-सचिव सर फ्रेडरिक करी से सलाह करके गुलाबसिंह को इस आशय का एक पत्र लिख भेजा कि अँगरेज़ सरकार ने अब तक उनके अधिकृत प्रांत केवल उन्हें भेंट कर रखे थे; पर अब यदि गुलाबसिंह चाहें तो धन देकर वह प्रांत ले सकते हैं। बड़े लाट ने एक करोड़ रुपए लेकर ब्यास और सिंध नदी का मध्यवर्त्ती प्रांत, काँगड़ा, काशमीर, हजारा और कोहिस्तान गुलाबसिंह को दे देना स्वीकार किया। पर उस समय गुलाबसिंह के पास इतना रुपया नहीं था, इसलिए उन्होंने थोड़े रुपए देकर कुछ कम प्रांत लेना चाहा। पर बीबी साहबा इस प्रबंध से भी संतुष्ट नहीं हुईं और उन्होंने राजा दीनानाथ, फ़क़ीर नूर-उद्दीन और भाई रामसिंह को सर लारेन्स और सर करी के पास भेजकर कहला दिया कि यह प्रबंध नहीं होना चाहिए और यदि होगा तो मैं स्वयं इसके प्रतीकार के लिए लंडन जाऊँगी। पर अँगरेज़ अधिकारियों ने इन बातों पर कुछ ध्यान न दिया; इस पर बीबी साहबा ने गुलाबसिंह को क़ैद करने के लिए सिख सेना को भेजा पर इससे पहले ही मेजर मेगरेगर एक रसाले के साथ जाकर गुलाबसिंह को अँगरेज़ी छावनी में ले आए, और वहाँ पर अँगरेजों के साथ उनकी संधि हो गई। (शेष आगे)

—:०:—

मानव-जीवन पर नाटकों का प्रभाव और हिन्दी में उनकी अवस्था।

(लेखक श्री साँवलजी नागर।)

हिन्दी नाटकों की अवस्था।

विषयारम्भ—मानव-जीवन के इतिहास में दो शक्तियाँ बहुत मुख्य हैं। इन्हीं के आधार पर मनुष्य का कार्य होता है। यदि ये दोनों न हों तो मानव-जीवन का निर्माण वृथा है। मनुष्य की इन दो प्रधान शक्तियों के नाम (१) सुनना और (२) देखना हैं। सच पूछिए तो संसार की सभी वस्तुओं में इनकी प्रधानता है। इसी लिए हमारे प्राचीन विद्वानों ने काव्य के भी दो विभाग कर दिये हैं, एक श्रव्य दूसरा दृश्य। श्रव्य काव्य वह है जिसमें कवि कुछ स्वयं वर्णन करता है और जिसके केवल सुनने ही से आनन्द प्राप्त होता है जैसे क़िस्से, कहानियाँ, उपन्यास, इत्यादि। दृश्य काव्य वह है जिसमें कवि को जो कुछ वर्णन करना होता है वह आप कुछ नहीं कहता उन विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों से ही कहला देता है। ऐसे काव्यों को प्रत्यक्ष देखने ही से आनन्द प्राप्त होता है। जैसे नाटक, प्रहसन इत्यादि। इन दृश्य काव्यों का दूसरा नाम नाटक वा रूपक है।

यह बात तो निर्विवाद है कि भारतवर्ष में नाटक और नाट्यकला बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। मुसलमानों के समय में यह कला प्रायः गुप्त सी हो गई थी। जिस समय ईरान, अरबिस्तान आदि देशों में नाटक या नाट्यकला का ज्ञान भी नहीं था उस समय भारतवर्ष में उसका अत्यधिक प्रचार था। इससे यह निश्चय है कि हमारे नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति स्वतंत्र है।

नाटक के समय और विदेशियों की सम्मति।

प्राचीन समय में भारतवर्ष की भाषा संस्कृत थी। यदि हम प्राचीन से प्राचीन नाटकों का पता

लगाएं तो हमें मृच्छकटिक, कालिदास के शाकुन्तल और भवभूति के उत्तर-रामचरित इत्यादि नाटक मिलेंगे। उपर्युक्त नाटकों के लेखक प्रथम से दसवीं शताब्दी तक में भारतवर्ष में उत्पन्न हुए और अपने परिश्रम से संस्कृत भाषा के नाटक लिख कर भारत-साहित्य का मुखोज्ज्वल कर गए। इसके बाद चौदहवीं शताब्दी तक के समय को नाटक का द्वितीय काल समझना चाहिए। इस समय में चन्द्रोदय, रत्नावली, नागानन्द, और मुद्राराक्षस इत्यादि नाटक लिखे गए हैं। भारतवर्षीय राष्ट्रभाषा हिन्दी के ख़याल से राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का समय अथवा १९ वीं शताब्दी का समय नाटक का तृतीय काल है। इसके प्रथम कि हम नाटकों के विषय में कुछ लिखें, अन्यान्य विदेशी विद्वानों की सम्मतियाँ इसकी महत्ता सूचित करने के लिये लिख देना उचित समझते हैं। मेनचेस्टर ओवन कालेज के प्रोफ़ेसर वार्ड साहब का मत है कि:—

Thus clothing itself in a diction always tropical in which the prose is the warp and the verse the woof, in which words become allusions, allusions similes and similes metaphors, the Indian drama essentially depended on its literary qualities, and upon the familiar sanctity of its favourite themes for such effect as it was able to produce.

यह सब तो नाटक और उसकी रचना के सम्बन्ध में लिखा गया किन्तु उस समय की रंगभूमि का कोई विशेष वर्णन नहीं दिया है। परन्तु इस में सन्देह नहीं कि उस समय के पात्र वर्तमान समय के पात्रों से विशेष कार्यकुशल एवं सुशिक्षित थे। प्राचीन समय में स्त्रियों का कार्य स्त्रियाँ ही सम्पादन करती थीं। British Encyclopædia Drama नामक पुस्तक में उपर्युक्त विषय का प्रमाण दिया हुआ है। उसके लेखक लिखते हैं कि

The minister of arts practised under such condition cannot but be regarded with re-

spect. Companies of actors seem to have been common in India at an early date and the inductions show the players to have been regarded as respectable members of society. In later if not earlier times individual actors enjoyed a wide-spread reputation. The directors were usually Brahmins."

प्राचीन नाटकों की कविता के विषय में उपर्युक्त लेखक का मत है—

The distinctive excellence of the Indian Drama is to be sought in the poetic robe which envelopes it as flowers over-spread the bosom of the earth in the season of spring. In its nobler production at least it is never untrue to its half religious, half moral origin; it weaves the wreaths of the fancies in an unbroken chain, adding to its favourite familiar blossoms ever fresh beauties from an inexhaustible garden. Nor is it unequal to depicting grand aspect of nature in her mighty forests and the shores of the ocean. The poetic beauty of the Indian drama reveals itself in the mystrious charm of its outline, if not in its full glow, even to the untrained, nor the study of it, for which materials may yet increase, be left aside by any nobler literature."

ऐसी ऊँची ऊँची भावनाओं के नाटक, ऐसे भावक, विद्वान् पात्र और ऐसी कवित्वमय रचना-शैली से हमारा इस प्रकार का अधःपतन हुआ है यह देख किस साहित्य-प्रेमी को दुःख न होगा। अपने पूर्व पुरुषों की उन्नत अवस्था पर आनन्दित और गर्वित हो हम लोगों को संतोष न करना चाहिए, वरन् वर्त्तमान समय के नाटकों की शोचनीय अवस्था पर विचार कर हम लोगों को अपनी कुप्रथाओं का निवारण कर उन्नति की चेष्टा करनी चाहिए। अतः सबसे प्रथम हमें वर्त्तमान समय के नाटक और रंग भूमि पर विचार करना उचित है।

रचनाशैली—नाटक साहित्य के अन्तर्गत है। यद्यपि वर्त्तमान समय में साहित्य की उन्नति की बहुत कुछ चेष्टाएं की जा रही हैं तथापि संगीत, नाट्य, शिल्प, चित्र एवं कविता आदि की दशा अभी तक शोचनीय ही है। हर्ष का विषय है कि विद्वानों का ध्यान अब कविता की ओर विशेष आकर्षित हुआ है और आशा है कि थोड़े ही समय में यह भाग उच्चश्रेणी में परिगणित हो सकेगा। नाटक लिखने तथा अभिनय करने का भी अंकुर रसिकों के चित्त में जम गया है परन्तु गूढ़ तत्त्वों की ओर अभिरुचि न होने के कारण इस कला की अभी तक वास्तविक उन्नति नहीं हो रही है। इस संसार में जितने मनुष्य हैं सबकी प्रकृति भिन्न भिन्न है। एक का स्वभाव, एक का जीवन, एक का चरित्र दूसरे से पृथक् है। इन सब चरित्रों का वर्णन उपन्यास वा नाटक द्वारा किया जाता है। पुस्तकों के पढ़ने की अपेक्षा प्रत्यक्ष दृश्यों के देखने से मानव-जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इन दृश्यों को जनसमूह के सन्मुख उपस्थित करना ही नाट्य कला है। नाटक की सफलता उसकी रचना पर अधिक निर्भर है क्योंकि संगीत और नाट्य कला दोनों परस्पर आश्रित हैं और ये दोनों कलाएं कवि और उसकी रचना-शक्ति पर ही निर्भर करती हैं। कविता उच्चश्रेणी की एवं प्रभावशालिनी हो तो संगीत अवश्य रुचिकर होगा; इसी प्रकार यदि नाटक उत्तमता से लिखा गया हो तो उसका अभिनय भी सफलता-पूर्वक और प्रभावशाली होगा। जैसे संगीत कला में गीत नीरस, अर्थहीन और अप्रिय हो—यथा "तुही मेरी नानी, तुही मेरी मामी, तुही मेरी अम्मा खालाजान"—आदि तो साक्षात् गन्धर्वराज और तानसेन भी उसे उत्तमता से गा नहीं सकते। इसी तरह यदि नाटक की रचनाशैली उत्तम न हो, कविता भी शुष्क ही हो, दृश्य भी निरर्थक हों (जैसे काशी का दृश्य दिखलाने के समय इङ्गलैण्ड के राजमहल का पर्दा दिखलाना), आख्यान (प्लाट) भी प्रभावशून्य और रसहीन हो तो कैसे ही कार्य-कुशल पात्रगण क्यों न हों नाटक में स्वप्न में भी सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। इन सब बातों का

विचार करने से और हिन्दी भाषा में नाटकों की अवस्था देखने से सिद्ध होता है कि आजकल के नाटकों और अभिनय-मंडलियों की दशा अतीव खेदजनक है। हिन्दी में मूल नाटकों के कर्त्ता—

श्रीभारतेन्दुजी—यद्यपि भारतेन्दुजी के पूर्व हिन्दी भाषा में पं० लक्ष्मीरामजी ने "करुणाभरण नाटक"—जिसका उल्लेख Manuscript Report में है—और महाराज श्रीविश्वनाथसिंह ने "आनन्दरघुनन्दन नाटक" लिखा था तथापि हिन्दी भाषा के नाटकों का इतिहास राजा लक्ष्मणसिंह और श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के समय से ही प्रारम्भ होता है। वास्तव में भारतेन्दुजी नाटकों के प्रारम्भकर्त्ता थे। हिन्दी-साहित्य में नाटकों के दो भाग हैं, एक तो मूल और दूसरे भाषान्तर से अनुवाद किए हुए। हिन्दी भाषा में जितने नाटक प्रकाशित हुए हैं उनका अधिक अंश अनुवाद ही है। मूल नाटक लिखनेवालों में श्रीहरिश्चन्द्रजी का नम्बर सबसे पहला है। इनके नाटक सबसे उत्तम और उच्चश्रेणी के हैं। भारतेन्दुजी ने जितने नाटक अपनी कल्पना से लिखे हैं उनमें चन्द्रावली, सत्य हरिश्चन्द्र का कुछ भाग, नीलदेवी, प्रेमयोगिनी, सतीप्रताप, भारतदुर्दशा, अन्धेरनगरी, विषस्यविषमौषधम्, और वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति मुख्य हैं। जैसी उच्च कल्पना, सौन्दर्यमयी भाषा, चित्ताकर्षिणी कविता और उत्तम शिक्षादायक शास्त्रोक्त रचनाशैली श्रीभारतेन्दुजी के नाटकों में पाई जाती है वैसी हिन्दी-संसार के किसी नाटक में भी नहीं प्राप्त होती। उदाहरण के लिए "सत्य हरिश्चन्द्र" लीजिए। यद्यपि यह चण्डकौशिक के आधार पर [या उसके बँगला छायानुवाद के आधार पर? सं०] बना है तथापि उत्तमता में मूल से कम नहीं है। आज तक मैंने जितने नाटक देखे हैं उनमें यह सर्वोत्तम है। इन्द्र के दरबार में नारद मुनि का सज्जन पुरुषों के लक्षण कहना बड़ा ही शिक्षादायक है। लेखक ने हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियता, गंगातट-वर्णन, श्मशान-वर्णन और शैव्या का विलाप ऐसी उत्तमता से लिखा है मानो वे स्वयं राजा हरिश्चन्द्र ही हों, पढ़ते पढ़ते प्रत्यक्ष दृश्य ही सम्मुख उपस्थित हो जाता है। मृत शरीर को देख हरिश्चन्द्र ने संसार की अनित्यता का जो वर्णन किया है वह बहुत उपयुक्त है। शैव्या का विलाप देख किस वज्रहृदय का चित्त न पसीजेगा? देवी के प्रसन्न होने पर भी हरिश्चन्द्र का अपने स्वामी का भला चाहना, पुत्रशोक उपस्थित होने पर भी धीरज न छोड़ना और अपना कर्त्तव्य पालन करना, साक्षात् स्त्री को अपने पुत्र का दाह कर्म न करने देना और उसके बराबर समझाने पर भी हरिश्चन्द्र का यही कहना कि "आध गज़ कपड़े के लिए मेरा सत्य न छुड़ाओ" कैसा धीरतायुक्त प्रशंसनीय, हृदय-विदारक और शिक्षादायक है। "चन्द्रावली" भी ऐसी ही है। यह प्रेम रसपूर्ण नाटिका है। इसमें आदि से अन्त तक प्रेम ही प्रेम है। इसमें नारद, चन्द्रावली के प्रेम छिपाने और योगिनी के वर्णन बड़े ही चित्ताकर्षक हैं। जिस प्रकार हरिश्चन्द्र में गंगा-वर्णन है उसी तरह इसमें यमुना-वर्णन है। वर्णन तो ऐसे उत्तम हैं मानो पाठक स्वयं नदी के तट पर उपस्थित होकर वह दृश्य ही देख रहा हो। नीलदेवी भी कुछ कम नहीं है। यवनों की बातचीत शुद्ध उर्दू भाषा में बहुत ही समयानुसार लिखी गई है। कवि ने क्षत्रियों का वीरत्व सन्मुख उपस्थित कर दिया है, पागल का पार्ट तो ऐसा उत्तम लिखा गया है मानों प्रत्यक्ष आगे उपस्थित है। इससे मालूम होता है कि लेखक को पागलपने तक का पूर्ण अनुभव था। भारतवर्ष की वास्तविक स्थिति और इसकी अवनति के प्रधान प्रधान कारण दिखलानेवाला यदि कोई नाटक हिन्दी भाषा में है तो "भारतदुर्दशा" है। छः सभ्यों की एक सभा में दिखलाया गया है कि किस प्रान्त में कैसी हिन्दी बोली जाती है और किस प्रान्त के कैसे विचार हैं। "प्रेमयोगिनी" में लेखक ने स्वयं वल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी हो कर उसकी कुरीतियों और गोस्वामियों के निन्दनीय आचरणों की निन्दा की है। यदि किसी को काशी

के कृष्णमन्दिरों, गैबी, पण्डों, बदमाशों और गुण्डों का हाल जानना हो तो उसे इस नाटक को एक बार अवश्य देखना चाहिए। भारतेन्दु जी की प्रख्यात विद्या-रसिकता और उदारता से काशी के कई सज्जन जलते थे। इस नाटक में भारतेन्दु जी ने अपनी निन्दा स्वयं कर यह दिखला दिया है कि इनके प्रति लोगों के विचार कैसे थे। यह काम सामान्य नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतेन्दु जी हिन्दी-भाषा और विशेषतः नाटकों के सम्बन्ध में अद्वितीय कार्य्य कर गए।

लाला श्रीनिवासदास—

लाला श्रीनिवासदास जी के भी इसी समय के दो नाटक मुख्य हैं (१) संयोगता स्वयम्बर और (२) रणधीर प्रेममोहिनी। यद्यपि इनकी रचना-शैली ऐसी उत्तम तो नहीं है जैसी कि भारतेन्दु जी की; तथापि लालाजी ने ये नाटक ऐसे समय में लिखे हैं जब कि हिन्दी-क्षेत्र में नाटकों का बीजारोपण आरम्भ हुआ था, इस लिये आप धन्यवाद के भागी अवश्य हैं। स्वतंत्र और उत्तम नाटकों के लेखकों में इनके बाद बाबू राधाकृष्णदास का नम्बर है। आपको जन्म ही से भारतेन्दु जी की शिक्षा और उनके सत्संग का सौभाग्य प्राप्त था। अतः इनकी भाषा और रचनाशैली कई अंशों में भारतेन्दु जी से मिलती जुलती है। इसका उदाहरण भारतेन्दु जी कृत "सती प्रताप" है। इस अपूर्ण नाटक की पूर्ति बाबू राधाकृष्णदास ने की है परन्तु न तो उसमें कहीं विशेष भेद ही दृष्टिगोचर होता है और न कहीं उसका स्वरूप ही बिगड़ने पाया है। इनके स्वरचित नाटकों में राजस्थानकेशरी या महाराणा प्रतापसिंह और महारानी पद्मावती मुख्य हैं। इनकी गणना अभिनय योग्य नाटकों में सर्वोत्तम है। पहले नाटक में एक गुण यह भी है कि हल्दी घाटी के युद्ध की छोटी से छोटी घटनाओं का भी उसमें समावेश है। प्रतापसिंह का स्वदेशप्रेम, मानसिंह का क्रोध, अकबर का पृथ्वीराज की रानी पर आसक्त होना, परन्तु रानी के क्रुद्ध होने पर अकबर का माफ़ी मांगना, सक्ता जी का भ्रातृप्रेम, अकबर का हिन्दुओं के प्रति विश्वास और वीरों का आदर आदि बहुत उपयुक्त और चित्ताकर्षक है। मानसिंह के गर्वपूर्ण वाक्य सुन और स्वयं उसे मूँछों पर हाथ फेरता हुआ देख राणा का यह कहना कि "सुनो सुनो महाराजा मानसिंह—

जिन कुल की मरजाद लोभ-बस दूर बहाई।
जीवन में जिन खोय दई आपनी बड़ाई॥
जिन जग सुख हित करी जाति की जगत हँसाई।
लखि जिनको मुख वीर रहे शिर सबै नवाई॥
तिनके संग खानो कहा मुख देखतहू पाप है।
जाहि शील अरु धर्म हित यह सिसोदिया थाप है॥"

कैसा शिक्षाप्रद है। प्रतापसिंह को युद्ध में जाते हुए देख बालक राजकुमार का अपनी माता के प्रति कहना कि "माँ! दलवाल जवनों का छिकाल खेलने जांयगे......भाई अब तो छहजादा को मालेंगे......इत्यादि बहुत रोचक, हृदयग्राही और वीरतादर्शक है। महारानी पद्मावती भी ऐसा ही वीर-रस युक्त प्रभावशाली एवं ओजस्वी नाटक है। कई जगह रोमाञ्च और क्रोध हो आता है। इस नाटक के बनने के पूर्व बाबू उदितनारायणलाल वर्म्मा ने अश्रुमती नाटक का अनुवाद किया था। इसमें लेखक ने प्रतापसिंह की पुत्री "अश्रुमती" का शाहज़ादा सुलेमान के प्रति प्रेम करना बहुत ही अनुचित एवं निन्दनीय रीति से वर्णन किया है। जिस समय यह नाटक लिखा गया था हिन्दी-संसार में घोर आन्दोलन उठा था और इसकी कुल प्रतियाँ जल में डुबा दी गई थीं तथापि इसकी कुछ प्रतियाँ कहीं कहीं देख पड़ती हैं। इसी प्रेमवार्ता को बाबू राधाकृष्णदासजी ने गुलाबसिंह और मालती की प्रेममयी वार्ता में बड़ी ही उत्तमता से परिवर्तित कर दिया है। मिर्ज़ापुर निवासी पंडित बदरीनारायणजी चौधरी का लिखा हुआ "भारत-सौभाग्य" नामक एक नाटक महारानी विक्टोरिया की जुबिली के समय का है परन्तु उसके अभिनय में १२५ पात्रों की आवश्यकता है! १०० पृष्ठ की पुस्तक में से

चार पृष्ठ ते पात्रों की तालिका से ही भरे हुए हैं। इसी प्रकार मूल नाटकों में और भी छोटे बड़े कई नाटक हैं परन्तु वे उल्लेख योग्य नहीं हैं। अभिनय के योग्य ते भारतेन्दुजी के भी कई नाटक नहीं हैं क्योंकि एक ते वे छोटे हैं दूसरे उनके दृश्यों के स्टेज पर दिखलाने में भी बहुत अड़चन पड़ती है। परन्तु इसमें भारतेन्दुजी का दोष नहीं है। वर्तमान समय के ढंग की "अभिनय मंडलियाँ" उस समय नहीं थीं इस कारण रंगभूमि का पूरा पूरा अनुमान उन लेखकों को न था। पर ते भी साहित्य के विचार से भारतेन्दुजी के नाटक रत्न हैं। इस प्रकार देखने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि हिन्दी भाषा में मूल नाटकों की दशा बहुत ही शोचनीय है।

(२) अनुवाद—जिस प्रकार मूल नाटकों की दशा खेदजनक है उसी प्रकार अन्यान्य भाषाओं से अनुवादित नाटकों की दशा भी शोचनीय ही है। अनुवाद करना कुछ सामान्य बात नहीं है। इसमें भी कुछ मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। हिन्दी भाषा में जिन नाटकों का अनुवाद हुआ है उनमें ऐसे नाटक बहुत कम हैं जिन्हें यथार्थ "अनुवाद" कह सकें। गद्य का गद्य में, एवं पद्य का पद्य में मूललेखक का यथार्थ भाव प्रगट करते हुए जो अनुवाद होता है उसे यथार्थ अनुवाद कहना चाहिए। बिना पूर्व कवि का पूरा भाव समझे अनुवाद करना केवल समय और परिश्रम नष्ट करना है। इन सब बातों का विचार करने से विदित होता है कि अनुवादक श्रेणी में भी भारतेन्दुजी की गणना प्रथम है। आपने मुद्राराक्षस, धनञ्जयविजय, कर्पूरमंजरी, रत्नावली, विद्यासुन्दर, भारतजननी, दुर्लभबन्धु, आदि कई संस्कृत, बँगला और अँग्रज़ी नाटकों के अनुवाद किये हैं। यद्यपि आपसे भी पहले आपके पिता बाबू गिरधरदासजी (उपनाम बाबू गोपालचन्द्रजी) ने नहुष नाटक तथा राजा लक्ष्मणसिंहजी ने शकुंतला नाटक का संस्कृत भाषा से हिन्दी में अनुवाद किया था; तथापि साहित्यभांडार की पूर्ति के ख़याल से भारतेन्दुजी का आसन ऊँचा है। उपर्युक्त राजा साहब ने शकुन्तला नाटक का अनुवाद बड़ी ही मनोहर सरल भाषा में किया था। इस में कोई सन्देह नहीं कि आपको इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

विद्यासुन्दर का अनुवाद बाबू हरिश्चन्द्रजी ने १८ वर्ष की अवस्था में किया था परंतु इसकी भाषा ऐसी सरल और छन्द ऐसे मनोहर हैं कि प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। इसी प्रकार धनञ्जयविजय, भारतजननी, दुर्लभबन्धु आदि के अनुवाद इतने उत्तम हुए हैं कि वे किसी स्वतंत्र ग्रन्थ से किसी बात में कम आनन्ददायक नहीं हैं। मुद्राराक्षस का भी बहुत उत्तम अनुवाद हुआ है और कई वर्ष तक मेट्रीकुलेशन आदि के कोर्स में था। उदाहरण के लिये प्रथम ही श्लोक और उसका अनुवाद लीजिए।

मूल श्लोक—

"धन्याकेयं स्थिता ते शिरसि, "शशिकला" किन्नुनामैतदस्याः
'नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।
'नारीं पृच्छामि नेन्दुं' कथयतु विजयानप्रमाणं महीन्दु
र्देव्यानिन्होतु मिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्य मव्याद्विभोर्वः ॥ १ ॥

अक्षरशः अनुवाद—

"कौन है शीश पै?" 'चन्द्रकला' कहा याको है
नाम यही त्रिपुरारी?।
हां यही नाम है भूल गई किमि जानत हौ
तुम प्रान पियारी॥
नारिहिं पूछत चन्द्रहिं नाहिं कहै विजया
यदि चन्द्रलबारी।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईश हरौ
सब पीर तुम्हारी ॥ १ ॥

कैसा शुद्ध, सच्चा और प्रशंसनीय अनुवाद है! इंगलैंड के कविवर शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद करना सामान्य काम नहीं है। परन्तु जैसा अनुवाद (Merchant of Venice) मरचेण्ट आफ़ वेनिस का श्री भारतेन्दुजी ने किया है वैसा कम देखने में आता है। इसी नाटक का एक अनुवाद "आर्य" नामक सज्जन ने और दूसरा पण्डित गोपीनाथजी

एम० ए० ने किया है परन्तु इनमें बहुत कुछ अन्तर है। उदाहरण के लिये कुछ वाक्य उद्धृत करता हूँ। पाठकगण उत्तमता स्वयं विचार लें।

"आर्य"—सं०१८८७

शैलाक्ष—"हे महाशय, मैंने आपसे निवेदन किया है और पवित्र विश्राम की प्रतिज्ञा की है कि अपना मूल धन और उस नियम के अनुसार चलूँगा, यदि आप उसको स्वीकार न करें तो तुम्हारा शासनपत्र और पौरजनाधिकार दुःखित होय। यदि आप मुझसे पूछेंगे कि क्यों मैंने एक टुकड़ा सड़ी मांस तीन सहस्र डुकेट्स की अपेक्षा स्वीकार करता हूँ, मैं इसका उत्तर न देऊँगा परन्तु जानो कि यह मेरे विचार में आया है क्या इससे उत्तर मिला? यदि मेरा गृह मूसा से उपद्रवित होय और उसको विषद्वारा नाश करने को दस सहस्र डुकेट्स देना स्वीकार करें तो क्या? अभी तक आपने उत्तर नहीं पाया। किसी मनुष्य को शूकर शावक का करकस शब्द अप्रिय है और दूसरा ऐसा है जो बिड़ाल को देखते ही पागल के समान वर्तता है। स्वभाव ही विधि और निषेध की ओर झुकाता है अब इस पर तुम्हारा उत्तर जैसे इस विषय में उत्तर देने को कोई योग्य हेतु नहीं है कि क्यों एक मनुष्य को शूकर शावक का शब्द अप्रिय लगता है और दूसरे को अनपकारी बिल्ली का। ऐसे ही मैं कारण नहीं कह सकता और न कहूँगा, केवल वही कारण कह सकता हूँ कि आटोनियो से विभवोत्पादक द्वेष रखता हूँ यह मेरी विज्ञापन निष्फल होय तथापि मैं उसका पीछा करूँगा क्या आपको उत्तर मिला?" इसी कथन को जो यहाँ कदाचित् कठिनाई से भी समझ में नहीं आता, भारतेन्दुजी ने ऐसे मधुर शब्दों में लिखा है जो मूल से कमरोचक नहीं है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी का अनुवाद किया हुआ यही अंश इस प्रकार है,—

"शैलाक्ष—महाराज को अपने उद्देश्य से सूचित कर चुका हूँ और मैंने अपने पवित्र दिन रविवार की शपथ खाई है कि जो कुछ मेरा दस्तावेज़ अनुसार चाहिए वह भग्न-प्रतिज्ञ होने के दण्ड सहित लूँगा। यदि महाराज उसको दिलवाना अनंगीकार करें तो इसका अपवाद महाराज के न्याय और महाराज के नगर की स्वतंत्रता के सिर पर। महाराज मुझसे यही न पूछते हैं कि मैं इतना मृत मांस ६ छःहज़ार रुपयों के बदले लेकर क्या करूँगा। इसका उत्तर मैं यही देता हूँ कि मेरे मन की प्रसन्नता, बस अब महाराज को उत्तर मिला? यदि मेरे घर में किसी घूंस ने बहुत सिर उठा रक्खा हो और मैं उसके नष्ट करने के लिए बीस सहस्र मुद्रा व्यय कर डालूँ तो मुझे कौन रोक सकता है? अब भी महाराज ने उत्तर पाया या नहीं। कितने लोगों को सूअर के मांस से घृणा होती है; कितने ऐसे हैं कि बिल्ली को देख कर आपे से बाहर हो जाते हैं तो अब आप मुझसे उत्तर लीजिए कि जैसे इन बातों का मूल कारण नहीं कहा जा सकता कि वह सूअर के मांस से क्यों दूर भागते हैं और यह बिल्ली सदृश दीन और सुखदायक जन्तु से क्यों इतना घबराते हैं वैसे ही मैं भी इसका कोई कारण नहीं कह सकता और न कहूँगा सिवाय इसके कि मेरे और उसके पुरानी शत्रुता चली आती है और मुझे उसके स्वरूप से घृणा है जिसके कारण से मैं एक ऐसे विषय का जिसमें मेरा इतना घाटा है उद्योग करता हूँ। कहिए अब तो उत्तर मिला?" यह बहुत ही स्पष्ट, रोचक और मनोहर अनुवाद है। अनुवाद के माने यही हैं कि जो लोग मूल पुस्तक नहीं पढ़ सकते उन्हें भली भाँति समझ में आ जाय और उसका यथेष्ट प्रभाव पड़े। जिस नाटकाचार्य शेक्सपियर के एक नाटक का यह अनुवाद है उसके और उसके और कई नाटकों के भी अनुवाद हो गए हैं परन्तु जैसा रोचक अनुवाद भारतेन्दुजी का हुआ है वैसा एक भी नहीं है। श्रीयुत पुरोहित गोपीनाथ जी एम० ए० को कोटिशः धन्यवाद है जिन्होंने इनके नाटकों का अनुवाद किया है। यद्यपि अनुवाद अधिक सरस है नहीं तथापि आपका परिश्रम सराहनीय है।

आपके अनुवाद के उदाहरण के लिए (Romeo and Juliet) "प्रेमलीला" को लीजिए।

बैनवोलियो—आवो, उसने अपने को उन वृक्षों में छिपा लिया है कि वह इस शीतल रात्रि के साथ सहवास कर सके। उसकी प्रणय दृष्टि-हीन है और इसलिए वह सब प्रकार से अन्धकार के ही योग्य है।

मरकुटियो—प्रणय यदि अन्ध होता तो लक्ष्य का भेद कदापि नहीं कर सकता। अब वह मेडलर जाति के वृक्ष के तले बैठ कर यह इच्छा करेगा कि उसकी प्रेम-पात्री वह फल दे कि जिसको कुमारियाँ अपने एकान्त हास्य के समय मेडलर के नाम से कहा करती हैं। हे रोमियो! मैं चाहता हूँ कि वह इत्यादि इत्यादि होती और तू पपैरिक देश का पीग्रर नाम फल होता।—

रोमियो—स्वस्ति।

आपके सब अनुवाद इसी प्रकार के हैं। इनकी रोचकता आदि का पाठकगण स्वयं निर्णय कर लें, परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि आपके अनुवाद शुद्ध हैं। पूज्य श्रीबदरीनारायण चौधरीजी के भ्राता पण्डित मथुराप्रसाद बी० ए० ने इसी महाकवि के "मेकबेथ" नामक नाटक का हिन्दी में अनुवाद किया है। "बी० ए० की विकट परीक्षा देने के उपरान्त" आप इस विचार में पड़े कि इस कठिन परिश्रम के पश्चात् ऐसा कौन कृत्य छेड़ें जो विश्राम और मनोविनोद के संग समय सार्थकारी हो—यही समझ कर आपने इसमें हाथ लगाया। उदाहरण के लिए इसके दो पद्य काफी होंगेः—

१ डाइन—अरी बहिन तू रही कहाँ।
२—शूकर मारत रही यहाँ।
३—तू अपनी कह रही जहाँ।
हुई बात क्या और तहाँ?।
१ डाइन—पूग लिए मल्लाहिन अङ्क कूंच कूंच खाती थी निसङ्क मैं बोली मुझको भी दो "देव कृपा से दूर तू हो।"

हाँ, काशी की "ग्रन्थ-प्रकाशक समिति" ने हेम्लेट का जो अनुवाद जयंत के नाम से किया है वह इन सबों से उत्तम है। अनुवाद तो और भी कई हुए हैं परन्तु उनमें रोचकता कम है। जिस प्रकार अँग्रेज़ी भाषा के कई नाटकों के अनुवाद हुए हैं उसी प्रकार से मातृभाषा संस्कृत के भी नाटकों के कई अनुवाद हो चुके हैं। संस्कृत भाषा में भवभूति के समान और कोई नाटककार नहीं हुआ। जिस तरह अँग्रेज़ी भाषा में शेक्सपियर थे उसी प्रकार संस्कृत-साहित्य के लिए महात्मा भवभूति थे। संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदासजी की "शकुन्तला" और महात्मा भवभूति के उत्तरराम-चरित से बढ़ कर कोई नाटक नहीं है। उत्तरराम-चरित्र के भी कई अनुवाद हुए हैं परन्तु शुद्ध एवं सर्वांग सुन्दर कदाचित् ही कोई हो। अभी तक इसके जितने अनुवाद हुए हैं उनके नाम और क्रम यों हैः—

१ पण्डित देवदत्त तिवारी कृत सन् १८७४ कुल गद्य
२ पण्डित नन्दलाल दुबे „ „ १८८७ गद्य-पद्य
३ श्रीयुत बाबू सीताराम बी० ए०„ १९०० „ „
४ „ „ पं० हरि मंगल मिश्र एम० ए० „ १९१२ „
५ „ „ पं० सत्यनारायणजी।

कौन अनुवाद कहाँ तक शुद्ध और रोचक है यह दिखलाने के लिए मैं हर एक का एक एक वाक्य उद्धृत करता हूँ—पाठकगण स्वयं उनकी उत्तमता विचार लेवें।

पण्डित देवदत्त तिवारी—

राम——हे देविजी इन दिव्य अस्त्रों को प्रणाम करो।

पण्डित नन्दलाल जी—कौशिल्या लव से पूछती हैं—

गद्य—कौशिल्या—तेरो भाई कहँ बेटा?
लव—हां माता। आर्य कुश नाम को।
कौशिल्या—यह बड़ो होय ऐसो तेरे कहे ते जान पड़त है।
लव—हां केवल प्रसव क्रम से वह कुछ बड़ा है।
जनक—तो क्या तुम दोनों युग्मज हो। इस

तरह गद्यांश ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली में मिला हुआ है अब पद्य भी देखिए।

पद्य—स्मरसि सुतनु याही शैल पै लक्ष्मण ने।
करि अपनऽलि सेवा दिन्न जाते न जाने॥
स्मरसि! पुनि सुरम्ये तीर गोदावरी के।
बिहरि निकटकाटे सुक्खते दिन्न जाके॥१॥

लाला सीताराम जी—(रामचन्द्र जी से लक्ष्मण कहते हैं)

गद्य—ल०—दादा की जय हो! दादा चितेरे ने हम लोगों के कहने से भीतियों पर आपका चरित उतारा है उसे आप देख लीजिए।

तथा—

बरुए—(बालक गण)।
पीछे है पूछ बड़ी लटकाए,
सो बारहि बार हिलावत है।
चारहि हैं खुर वाके गला,
अति लांबो सो मूड़ उठावत है।
खात है घास और आम बराबर,
लीद तुरंग गिरावत है।
आगें चलैं तेहि देख सखा,
न भजै अति वेग सों धावत है।

श्रीयुत पण्डित हरिमंगल मिश्र जी—

पण्डित जी का अनुवाद सर्वोत्तम होने पर भी गँवारू भाषा में है। लक्ष्मण जी सीता जी को "भौजी" और सीता जी लक्ष्मण को "बबुआ" कह कर संबोधन करती हैं। यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

अब पद्य का भी नमूना लीजियेः—

बूढ़ चरित्र को करइ विचारा।
नहिं कुमार यह काज हमारा॥

पं० सत्यनारायणजी का अनुवाद बहुत रोचक है। इस प्रकार मिलान करने पर विदित होता है कि यद्यपि इस नाटक के कई अनुवाद हुए परन्तु एक भी अनुवाद उल्लेखनीय नहीं हुआ।

लाला सीताराम जी और पंडित नन्दलाल जी ने और भी कई संस्कृत नाटकों के अनुवाद किये हैं परन्तु यह भी वैसे ही हैं। संस्कृत और अंग्रेज़ी के बाद हिन्दी भाषा में कितने ही नाटक दूसरी दूसरी भाषाओं से भी अनुवादित हुए हैं। जैसे बँगला, मराठी, उर्दू आदि। इनमें जो नाटक बंगला और मराठी से अनुवादित हैं वे स्टेज पर खेलने योग्य एवं प्रभावोत्पादक हैं परन्तु जो नाटक पारसियों के उर्दू नाटकों के अनुवाद हैं वे एक तो नाट्यशास्त्र के नियमों के विरुद्ध हैं दूसरे अशुद्ध एवं अरुचिकर हैं। उदाहरण के लिए बाबू आनन्दप्रसाद खत्री का "कलियुग" नाटक देखिए। यद्यपि बाबू साहब अपने को स्वतंत्र लेखक लिखते हैं तथापि वास्तव में आपने उर्दू के "सफ़ेद ख़ून" का अनुवाद मात्र किया है। हां कहीं कहीं कुछ अदल बदल और तोड़ मरोड़ अवश्य किया है। यह दुर्गुण और भी कितने ही लेखकों में पाया जाता है। इस पुस्तक के लिखने में भारतेन्दुजी कृत अनेक नाटकों से अनेक वाक्य ज्यों के त्यों ले लिए गए हैं।

समर्पण में एक स्थान पर आप लिखते हैं—"यह एक नया कौतुक देखो। तुम्हारे सत्यपथ पर चलनेवाले को कितना कष्ट होता है यही इसमें दिखाया है"। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने "सत्य-हरिश्चन्द्र" के समर्पण में अक्षरशः यही वाक्य लिखे हैं पृष्ठ सं० ८ में आप यह लिखते हैंः—

"चन्द्र टरै सूरज टरै टरै पृथ्वी आकाश।
पै मेरो यह दृढ़ बचन कबहुं न होत विनाश॥

यह सत्यहरिश्चन्द्र के इस दोहे को तोड़ मरोड़ कर लिखा गया है।

"चन्द्र टरै सूरज टरै टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द को टरै न सत्य विचार"॥

जो अंश उर्दू का हिन्दी लिपि में लिख लिया गया है और जिसे आप स्वरचित बतलाते हैं वह पारसी थियेटरवालों के ढंग पर है। यह किसी काम का नहीं है।

आपकी अपूर्व कवित्व शक्ति का भी नमूना लीजिएः—

गाना—पृष्ठ—२३

न्यारी अकड़ फबन से मैं चलूँ
सारे गाँव का राय बहादुर बनूं
आगे पीछे सिपाही दो चार रखूँ
तनिक छाती को खू.ब निकाल चलूँ
देखो मेरा सन्मान ग्रौर प्रतिष्ठा

वाह ! कैसी अच्छी कविता ग्रौर भाषा है !

यह सब लिखने से मेरा नाटककार पर आक्षेप करने का तात्पर्य नहीं है; मेरा मतलब केवल यही दिखलाने का है कि वर्तमान समय में जो लोग नाटक लिखने ग्रौर अनुवाद करने लगे हैं उन्हें हिन्दी-भाषा ग्रौर गँवारू भाषा का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। "कलियुग" नाटक महाकवि शेक्स-पियर के "किंग लियर" नामक नाटक का एक प्रकार से अनुवाद है। छोटे छोटे ६८ पेज के नाटक में मूल कवि के कहाँ तक भाव आए होंगे इसे पाठक गण स्वयं विचार लें। भाषा ग्रौर देवनागरी लिपि में कितने ही प्राचीन नाटक—जैसे सज्जाद सम्बुल, मदनमंजरी, सतीनाटक, प्रबोध-चन्द्रोदय, प्रेमविलास आदि—एवं अर्वाचीन याने वर्तमान समय के नाटक जैसे ऊषाहरण, सुभद्राहरण, वेणीसंहार इत्यादि हैं जिनमें से स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्म्मा के कई नाटक बहुत उत्तम हैं। तथापि राष्ट्र-भाषा के ख्याल से ग्रौर बँगला, मराठी, गुजराती भाषाग्रों के भांडारों के आगे इनकी गणना कुछ भी नहीं है। ग्रौर जो हैं उनमें ऐसे बहुत कम हैं जिनके अभिनय हो सकें। नाटक दृश्य काव्य है। इसकी रचना केवल इसी लिए होती है कि यह रङ्गमञ्च पर प्रत्यक्ष खेला जाय। जो नाटक खेले ही नहीं जा सकते उनके लिखने से क्या लाभ? परन्तु इसमें दोष हमारे पुराने लेखकों का नहीं है। इसमें समय का दोष है। उस समय हिन्दी नाटक मंडलियों के न होने से लेखकों को स्टेज (रंगमंच) का अनुभव न था। वे नहीं जानते थे कि किस दृश्य में कितनी देर लगने से उसके बादवाले दृश्य तैयार हो सकेंगे। राजदरबार ग्रौर युद्ध के पहले ग्रौर पीछे कितने बड़े ग्रौर कैसे दृश्य होने चाहिएँ, राजा अथवा पैदल सैनिकों को तैयार होकर आने में कितना समय लगता है इत्यादि इत्यादि बातों पर उनका ध्यान न था। यही कारण है कि कितने ही नाटकों के ठीक ठीक अभिनय नहीं हो सकते।

कोई कार्य करके फल की आशा करना प्रकृति का नियम है। पेड़ इसी लिए लगाए जाते हैं जिसमें कुछ फल हों। कोई कार्य ऐसा नहीं है जिसका अच्छा वा बुरा ग्रंत न हो। पुस्तकें इसी लिए लिखी जाती हैं जिनसे मनुष्य समाज को ज्ञान प्राप्त हो। नाटक इसी लिए रचे जाते हैं कि जिसमें उनका प्रत्यक्ष अभिनय हो। अभिनय इसी लिए किए जाते हैं कि जिसमें दर्शकों पर अच्छा प्रभाव पड़े। जिस नाटक का प्रभाव नहीं पड़ता वह नाटक नहीं। जिस नाटक से सदृशिक्षा न मिले उस नाटक की रचना ठीक नहीं। शिक्षा तभी प्राप्त हो सकती है जब नाटक प्रभावशाली हो। मानव-जीवन पर नाटकों का, कैसा एवं किस प्रकार से प्रभाव पड़ता है इस पर भी विचार करना आवश्यक है।

मानव जीवन पर नाटकों के प्रभाव।

मानव-जीवन के साथ शिक्षा का बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य का कोई ग्रंश इससे खाली नहीं है। जन्म लेने के बादही जब उसे भूख मालूम होती है तब वह रोने लगता है; परन्तु जब माता अपना स्तन उसके मुख में दे देती है तब चुप होकर उसे चूसने लगता है। इस प्रकार विचार करने से मालूम होता है कि जीवन का कोई ग्रंश शिक्षा ग्रौर अनुभव से खाली नहीं है। इस संसार में आकर मनुष्य को जितने काम करने पड़ते हैं वे सब बड़े बड़े प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ताग्रों के मत से पाँच भागों में बाँटे जा सकते हैं।

(१) वे काम जिनकी सहायता से मनुष्य अपनी प्राण-रक्षा प्रत्यक्ष रीति से कर सकता है।

(२) वे काम जो निर्वाह के लिए आवश्यक बातों को प्राप्त करा कर परोक्ष रीति से, मनुष्य की जीवन रक्षा में सहायता देते हैं।

(३) वे काम जो संतान के पालन, पोषण और शिक्षण आदि से सम्बन्ध रखते हैं।

(४) वे काम जिनकी जरूरत समाज, नीति और राजनीति की उचित व्यवस्था के लिए होती है।

(५) वे काम जिन्हें लोग और बातों से फुरसत पाने पर मनोरञ्जन के लिए करते हैं।

इन पाँचों का क्रम अपने अपने महत्व के अनुसार है। जो शिक्षा जिस श्रेणी के काम से सम्बन्ध रखती है उसे उतनी ही उच्च और उतने ही अधिक महत्व की समझना चाहिए। अब हमें यह देखना है कि नाटक से इन विभागों का कहाँ तक सम्बन्ध है क्योंकि इन्हीं विभागों पर मानव जीवन के सब कार्य निर्भर हैं—

(१) प्राण-रक्षा सम्बन्धिनी शिक्षा—

मानव जीवन के साथ चरित्र का बड़ाही घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस मनुष्य के जैसे चरित्र होंगे वैसाही वह मनुष्य भी हो जायगा। जिस मनुष्य के चरित्र जितने अच्छे होंगे उतनी ही अच्छी वह अपनी रक्षा कर सकेगा। यदि कोई मनुष्य सत्यवक्ता, मधुरभाषी, नम्र एवं शीलवान् होगा तो उसका जीवन भी उत्तम और रक्षित होगा। उसके जीवन के उत्तम होने से उसके मित्र बान्धव आदि सभी को सुख प्राप्त होगा। उसका अनुकरण कर वे लोग भी सच्चरित्र बन सकेंगे। उनके चरित्र अच्छे होने से उनकी जाति की उन्नति होगी। उस जाति की उन्नति होने से उसके प्रान्त को लाभ होगा और उसके प्रान्त को लाभ होने से उसके देश का उपकार होगा। देश की उन्नति होने से उसके निवासी भाइयों को सुख प्राप्त होगा। संसार में सुख ही मुख्य वस्तु है। मनुष्य जितने काम करते हैं सब सुख प्राप्त होने के लिए ही करते हैं। अनेकानेक आपत्तियों को झेलते हुए अत्यधिक परिश्रम कर लोग धन एकत्रित करते हैं। परन्तु किसके लिए? केवल सुख के लिए। सुख पाने की इच्छा सब को रहती है। परन्तु यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि सुख का मूल सच्चरित्रता है। यदि हमारे चरित्र अच्छे नहीं हैं, हम मद्यसेवी, वेश्यागामी या द्यूतप्रेमी हैं तो हमसे सभी लोग अप्रसन्न रहेंगे और हमें स्वप्न में भी सुख की प्राप्ति न हो सकेगी। हमारा बुरा आचरण देख हमारे मित्र बान्धव भी हमारे सरीखे हो जायँगे। इस प्रकार हमारे कारण जाति की, जाति से प्रान्त की, प्रान्त से देश की और देश से देशवासियों की हानि होगी। किसी को भी हमारे बुरे आचरण से लाभ न होगा। चरित्र-सुधार के कई उपाय हैं। कहीं व्याख्यानों द्वारा कहीं उपन्यासादि और पुस्तकों द्वारा चरित्र सुधार के उपदेश दिए जाते हैं; कहीं कोई सभा की जाती है तो कहीं कोई सोसाइटी स्थापित हो रही है। परन्तु चरित्र-सुधार का सर्वोत्तम उपदेशक नाटक है। रंगभूमि में किसी के घृणित चरित्रों और सच्चरित्रों के आधार पर बड़े बड़े उपदेश राजा महाराजों एवं अन्य दर्शकों को दिये जाते हैं। यदि किसी पुस्तक में सत्य हरिश्चन्द्र की कहानी लिखी हो तो उसका प्रभाव जन समुदाय वा उसके पाठकों पर उतना नहीं पड़ सकता है जितना कि रंगभूमि में किसी को हरिश्चन्द्र, किसी को शैव्या बना कर उनके सत्य, धैर्य, दान, संतोष, कर्तव्यपालन इत्यादि का सन्मुख दृश्य उपस्थित करने से हो सकता है। वह शारीरिक एवं चरित्रसुधारक शिक्षा जो मनुष्य को प्रत्यक्ष रीति से अपनी रक्षा के लिये योग्य बनाती है नाटक के प्रभावों द्वारा सहज में प्राप्त हो सकती है। नाटक ही के प्रभाव से मनुष्य का वह जीवन जो चरित्र के हीन होने से बिगड़ रहा हो सुधरता है और सुधर सकता है।

(२) उदर-निर्वाह सम्बन्धिनी शिक्षा—

यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि मानवजीवन के साथ उदर का क्या सम्बन्ध है। इस संसार में जितने प्राणी हैं, चाहे वे मनुष्य हों या पशु, जलचर हों वा स्थलचर, पेट की फ़िक्र सब को है। कोई जीव ऐसा नहीं है जो भोजन के

बिना अपना जीवन व्यतीत कर सके। अतः भाजन (उदर-निर्वाह) से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा सर्वव्यापिनी और बड़े महत्त्व की है। मनुष्य-समाज में इसके दो भाग हैं ; एक तो वह शिक्षा जो बिना दूसरे का काम किये व्यापार के द्वारा मनुष्य का निर्वाह करती है; दूसरी वह शिक्षा जो मनुष्य को दूसरे का काम कर अपना उदर पोषण करने की ओर प्रवृत्त करती है। हर एक मनुष्य को अपने जीवन निर्वाह के लिये इन दोनों की अथवा इनमें से किसी एक की अवश्य ही आवश्यकता पड़ती है। नाटकों के द्वारा यह शिक्षा भी थोड़े समय में बड़ी उत्तमता से प्राप्त हो सकती है। थोड़ेही समय में किस प्रकार दूकान सजाना, ग्राहकों से किस तरह बातें करना, ठगों को कैसे बातों में लाकर पहचान लेना, दलालों की चालाकियाँ आदि सभी बातें जिनका सम्बन्ध व्यापार से है नाटकों के द्वारा दिखलाई जा सकती है और इसके प्रत्यक्ष दृश्यों से मनुष्य इस विभाग की सभी बातें जान सकता है। दूसरे का काम किस तरह करना चाहिए, राजा से शासनकार्य्य के कुछ भाग का भार ले कर उसे कैसे निबाहना चाहिए इत्यादि बातें बहुत भली भाँति नाटकों द्वारा प्रत्यक्ष कराई जा सकती हैं। जिन्होंने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक पढ़ा है उन्हें विदित होगा कि एक बार स्मशान-देवी श्री हरिश्चन्द्रजी पर प्रसन्न हुईं। उन्होंने प्रसन्न होकर उनसे बर माँगने के लिये कहा। हरिश्चन्द्र उस समय डोम के दास थे। यदि वे चाहते तो स्त्री, पुत्र, राज्य, धन, सब कुछ देवी से मांग सकते थे और देवी भी, जो वचनबद्ध हो चुकी थीं उनकी अभिलाषा को अवश्य पूर्ण करतीं। परन्तु सेवक हरिश्चन्द्र ने भगवती से यही कहा—"भगवती यदि आप प्रसन्न हैं तो हमारे स्वामी का कल्याण कीजिये।" इस दृश्य से सेवक समाज को स्वामि-भक्ति की कैसी उत्तम शिक्षा मिलती है। जब वीरवर प्रतापसिंह का सब कुछ नष्ट हो गया उस समय भामाशाह मंत्री ने अपने निज के विपुल धन से उनकी सहायता की थी। क्या राजस्थान केसरी नामक नाटक के उक्त दृश्य से सेवक समाज को अपने स्वामी के प्रति विपत्ति के समय सच्चे सेवक के कर्तव्यों की शिक्षा नहीं प्राप्त होती? नाटक के प्रभाव से केवल यही शिक्षा नहीं मिलती वरन् यह भी सिद्ध हो जाता है कि ऐसी स्वामि-भक्ति का क्या फल होता है। इस प्रकार नाटक के सुप्रभाव और मानव जीवन से चोली दामन का साथ रखनेवाली उदर निर्वाह सम्बन्धिनी शिक्षा भी प्राप्त होती है।

(३) सन्तान-सुधारिणी शिक्षा—

देश का उद्धार, देश की उन्नति, देश का गौरव सुसंतानों पर अवलम्बित है। सच पूछिये तो मातृभूमि का सब से प्रिय धन उसके प्यारे नवयुवक हैं। यदि ये नवयुवक सुशिक्षित होंगे तो मरुभूमि को भी अपने रक्त से सींच कर अनाज उत्पन्न करेंगे, रेतीले मैदानों को अपने प्रयत्न और प्रयास द्वारा पानी से भर देंगे, खानें खोद डालेंगे और भूगर्भ में से छिपे हुए सोने चांदी के भांडार निकालेंगे। शिक्षित नवयुवक अपने पराक्रम अपने बल और अपने उत्साह से जननी जन्मभूमि का नाम चारों दिशाओं में फैलावेंगे। उसे संसार की सब जातियों में अग्रगण्य और सम्मानित करेंगे। बाल्यावस्था में स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र होती है। उस समय की समझी हुई बातें मरण पर्यन्त नहीं भूलतीं; दूसरी बात यह है कि बालकों का शिक्षण, और चरित्रसुधार जैसा नाटकों द्वारा हो सकता है वैसा उत्तम और उतने ही अल्प समय में शायद अन्य उपायों द्वारा नहीं हो सकता। जब बालक छोटा रहता है तब वह ज़रा ज़रा सी बातों पर हठ करता, कभी कुछ चुरा कर खा लेता और कभी झूठ भी बोलता है। ऐसी अवस्था में माता पिता या पोषक उसे यह कह कर कि "अगर ज़िद्द करोगे तो हम बाबाजी को बुला कर तुम्हें पकड़ा देंगे" "अगर अब कभी चोरी करोगे तो तुम्हें खाने को न देंगे " अगर कभी झूठ

बोलोगे तो उस लाल पगड़ीवाले सिपाही से तुम्हें पकड़वा देंगे" बालकों को धमकाते, फुसलाते और समझाते हैं। परन्तु यही सब बुरी बातें और उनका बुरा फल नाटकों के द्वारा बालकों के चित्त में जमा दिया जाय तो सम्भव नहीं कि वे बालक जो माँ बाप की झूठी धमकियों से उस काम को छोड़ देने की कोशिश करते हैं नाटकों में उनका प्रत्यक्ष दृश्य देख कर न छोड़ें। अच्छे अच्छे शिक्षा-दायक दृश्यों के प्रभाव से बालकों की प्रकृति बदल जाती है और उनके कोमल हृदय में बुरे के स्थान पर अच्छे आचरण के बीज बोए जाते हैं; सम्भव नहीं है कि इन बीजों से सत्कार्य्य रूपी वृक्ष उत्पन्न न हों और इन वृक्षों में संसार का कल्याण करनेवाले फल न हों। इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि वह सन्तान सुधारनेवाली शिक्षा जिसके बिना किसी समाज नगर या देश की किसी प्रकार की उन्नति नहीं हो सकती, इन नाटकों के प्रभावों द्वारा थोड़े समय में प्राप्त हो सकती है।

(४) सामाजिक एवं राजनैतिक शिक्षा—

प्रत्येक देश की अवस्था उस देश के इतिहास द्वारा जानी जाती है। जैसे जैसे देशवासी नवयुवक इतिहासों का अध्ययन करते जायँगे वैसे ही वैसे उनके कोमल हृदय में श्रद्धा, भक्ति तथा देश-सेवा के अंकुर बढ़ते जायँगे। बिना इतिहास का ज्ञान प्राप्त किए मनुष्य इस संसार में अपनी, अपने समाज की तथा अपने देश की स्थिति नहीं जान सकता। इतिहास ही के द्वारा हम लोग अपने पूर्व-पुरुषों के चरित्र, उनकी विद्या, स्वदेश-प्रियता, चाल व्यवहार आदि जान सकते हैं। प्राचीन समय में हमारे समाज की क्या दशा थी; उस समय लोग अपने समाज की सेवा, उन्नति और भलाई किस प्रकार करते थे, यवनों के समय में हमारे समाज तथा आचरण की क्या दशा हुई, वर्त्तमान समय में हमारे समाज की क्या दशा है, किस कार्य्य के करने से हमारा समाज उन्नत हो सकेगा, इत्यादि इत्यादि बातें इतिहास ही के द्वारा जानी जा सकती हैं। प्राचीन समय में राजा महाराजाओं के राज-नियम क्या थे, वे किस तरह मनुष्य समाज में अपना प्रभुत्व जमाये हुए थे, विदेशियों के आने पर उन नियमों में किस तरह एवं कैसे परिवर्तन हुए, समाज पर इन परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ा, आज कल हमारी क्या दशा है, आदि ये सब बातें भी इतिहास ही के द्वारा जानी जाती हैं। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि आजकल जो इतिहास की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, उनसे उक्त बातों का बहुत ही कम ज्ञान प्राप्त होता है। उनमें केवल राजा महाराजाओं के साधारण जीवनचरित्र और उनकी सेना की संख्याएँ तथा कुछ मुख्य मुख्य घटनाओं की तिथियाँ ही मालूम होती हैं। इस का कारण यही है कि ये ऐतिहासिक पुस्तकें उन लोगों की बनाई हुई हैं जो हमारे समाज संस्कार, हमारे पूर्वजों के प्राचीन राजनियम, यहाँ तक कि हमारी भाषा से भी पूर्ण परिचित नहीं हैं। ऐसी अवस्था में नाटक और उपन्यास ही हमारा काम देते हैं। इनमें भी नाटक तो मानों प्राण है। यदि आज हमारे पास मृच्छकटिक नाटक न होता तो हमें उसके बनने के समय की अवस्था का पूरा हाल बहुत कठिनता से ज्ञात होता। राजस्थान केशरी नाटक से वीर प्रतापसिंह के नगर निवासियों की सामाजिक अवस्था ज्ञात होती है। भारतेन्दुजी के "भारतदुर्दशा" से इस देश की वास्तविक दशा का बहुत कुछ ज्ञान होता है।

"महारानी पद्मावती", "नीलदेवी", आदि नाटकों के अभिनय से उस समय के इतिहास का अनुमान होता है। एक बार काशी की भारतेन्दु नाटक मण्डली ने "राजस्थान केसरी" नाटक खेला था, उसमें श्रीमान् महाराज काशिराज भी पधारे थे। जब उन्होंने प्रतापसिंह के मुख से प्रथम दृश्य के कुछ प्रभावशाली वाक्य सुने तब वे सहसा चौंक उठे और उन्होंने अपनी तलवार अपने हाथ में ले ली। सत्य हरिश्चन्द्र के अभिनय के समय दर्शकों में ऐसे बहुत से लोग निकलते हैं जो दाँत

पीसते हुए मन ही मन विश्वामित्र को हज़ारों उलटी सीधी सुनाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति का जैसा अच्छा ज्ञान नाटकों द्वारा प्राप्त होता है वैसा उत्तम ग्रैार उपायों से संभव नहीं।

मनोरञ्जनीय् शिक्षा।

दिन भर परिश्रम करने के उपरांत हर एक मनुष्य के अपना दिल बहलाने ग्रैार अपना मस्तिष्क शान्त एवं पूर्ववत् करने के लिए कुछ न कुछ मनोरञ्जन की आवश्यकता होती है। जब कोई मनुष्य अस्वस्थ होता है तब उसका स्वभाव बदल जाता है। बहुत शांत प्रकृति के मनुष्य में भी उस समय क्रोध उत्पन्न हो जाता है; ऐसे समय में नाटक का दृश्य बड़े काम का होता है। उससे उसका मनोरञ्जन भी होता है ग्रैार साथही साथ उसका बिगड़ा हुआ स्वभाव भी सुधर जाता है। गायन सुनने से उसका चित्त मोहित हो जाता है ग्रैार उसकी वेदना कम हो जाती है। नाटक में मनोरञ्जनीय दृश्य तो होते ही हैं इनके सिवा उनसे बहुत कुछ शिक्षाएँ भी मिलती हैं, जैसे शराबी को देख कर हँसी तो आती है साथ ही साथ उसकी दुर्दशा देख शराब न पीने की शिक्षा भी मिलती है। इस प्रकार नाटकों द्वारा शिक्षा भी प्राप्त होती है ग्रैार मनोरञ्जन भी होता है।

सारांश।

किसी काम के करने के पहले उस कार्य्य के करने की रीति जानने की आवश्यकता पड़ती है। भोजन करने के पहले यह जानने की आवश्यकता होती है कि किस तरह उसे हाथ से उठाना ग्रैार किस तरह दाँतों से चबा कर निगलना चाहिए। किसी सभा में जाने से पूर्व यह जानना आवश्यक होता है कि उस सभा के क्या अधिकार हैं, उसके सभासदों के क्या कर्तव्य हैं, उस सभा या उसके सभासदों को किस बात की ज़रूरत है। इसी तरह संसार रूपी वृहत् सभा में प्रवेश करने के समय भी जिसके प्रत्येक जीव सभासद हैं, हमारा यह जानना बहुत जरूरी है कि हमारे लिए संसार के क्या नियम हैं ग्रैार हमें, हमारे परिवार, हमारे देश अथवा संसार को किन बातों की आवश्यकता है ग्रैार हमारे किस कार्य से हमारे समाज जाति नगर देश ग्रैार साथ ही साथ संसार का भला होगा। नाटकों द्वारा हम लोगों को इन सब बातों का बहुत अच्छा ज्ञान हो जाता है। अथवा यों कहिये कि जिन कामों को हमें संसार में करना पड़ता है उन सबों का ज्ञान हम नाटकों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं ग्रैार जब इस प्रकार हमें नाटकों द्वारा अपने कर्तव्य ज्ञात हो जाँय तब फिर उनके पालन में हमारे लिए बहुत सरलता हो जाती है। जब हमने अपना कर्तव्य पालन कर लिया तब निश्चय ही हमारा जीवन सार्थक है ग्रैार संसार के लिये लाभकारी है। इस प्रकार मानव जीवन को सार्थक बनाना ग्रैार उसे अपने कर्त्तव्य-पालन की ग्रोर प्रवृत्त करना, नाटकों के प्रभाव का कार्य है। यही कारण है कि प्रत्येक देश के साहित्य में नाटक को बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है।

परन्तु हिन्दी साहित्य में इसकी दशा संतोषदायक नहीं है। इस लेख के पूर्व भाग के देखने से आपको विदित हो गया होगा कि इसकी अवस्था कैसी शोचनीय है।

हिन्दी के अधिकांश नाटक केवल पढ़ने अथवा गिनती गिनने के योग्य ही हैं। जिन नाटकों के प्रभाव से मनुष्य अपने कर्त्तव्यों को जान सकता है, अपनी चाल चलन सुधार कर अपना जीवन आदर्श बना सकता है ग्रैार संसार का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है, उनकी हिन्दी-संसार में ऐसी शोचनीय अवस्था हो—यह कितने दुःख की बात है। जूलाई-सितम्बर, १९१३ की सरकारी रिपोर्टों के देखने से विदित होता है, कि जहां मराठी, गुजराती ग्रैार बंगला भाषा में तीस तीस ग्रैार चालीस चालीस नाटक लिखे गए वहाँ हिन्दी में केवल तीन या चार ही नाटक प्रकाशित हुए ग्रैार वह भी उपर्युक्त भाषाग्रों के सन्मुख केवल नामभर के हैं। परन्तु इससे हमें

हताश न होना चाहिये। एक समय भारतेन्दुजी के पूर्व का था जब कि हिन्दी भाषा में नाटकों का नाम निशान भी न था, और एक समय आज है। जब कि हम उस भाषा में सैकड़ों नाटक देख रहे हैं। जब तक पेड़ छोटा होता है उसके फल कच्चे और छोटे होते हैं। इसी तरह नाटकों का पवित्र वृक्ष जिसे श्रीमान् भारतेन्दुजी ने जमाया है अभी छोटा है और इसीसे इसके फल अभी परिपक्व और स्वादिष्ट नहीं हैं। परन्तु निश्चय रहे कि एक समय आवेगा जब साहित्य-सेवियों के जल-सिंचन से यह नाट्य-वृक्ष बहुत बड़ा हो जायगा और इसके सुस्वादु फलों का रसास्वादन कर हम लोग प्रसन्न होंगे और इस की शिक्षादायक छाया में बैठकर निज कर्त्तव्य मार्ग में अग्रसर होंगे।

—:o:—

अशोक के अभिलेख।

[लेखक बाबू जगन्मोहन वर्म्मा]

(प्रस्तावना)

अशोक के अभिलेख तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। पहला 'आदेश' दूसरा 'स्तंभभिलेख' और तीसरा फुटकर 'अभिलेख'।

आदेशाभलेख जो आज तक मिले हैं वे मुख्य चौदह हैं जो भिन्न भिन्न स्थानों में वहाँ की प्रांतिक भाषा में खुदी हुई है। इन स्थानों में गिरिनार शाहबाज़गढी, मनसेहरा और कालसी प्रधान स्थान हैं जहाँ चौदहों अभिलेख मिलते हैं। ये अभिलेख मुख्य कर दो लिपियों में हैं; पंजाब वा उसके आस पास के स्थानों में खरोष्ट्री लिपि में और इतर स्थानों में ब्राह्मी लिपि में।

इसी प्रकार स्तंभाभिलेख और फुटकर अभिलेख भी कई स्थानों में उन्हीं लिपियों में मिलते हैं। ये लिपियाँ बड़ी असावधानी से खोदी हुई प्रतीत होती हैं। खरोष्ट्री लिपि में दीर्घ स्वरों का सर्वथा अभाव है। मालूम होता है कि उस समय में ये लिपियाँ सर्वथा फारसी लिपि की की तरह अटकल से पढ़ी जाती थीं, क्योंकि यह कभी संभव नहीं है कि किसी प्रांत में सर्वथा दीर्घ वर्णों का अभाव ही हो। किन्हीं किन्हीं स्थानों के अभिलेखों में हेर फेर बहुत मिलता है जिससे यह अनुमान होता है कि खोदनेवाले उन अक्षरों के अभ्यासी तो थे पर ऐसे व्युत्पन्न नहीं थे कि वे उसे शुद्ध खोद सकते। संयुक्त अक्षरों में प्रायः विपर्य्यय देखा जाता है जैसे 'ठ्य' का 'ट्व' र्थ का थ्र, र्व का व्र इत्यादि प्रायः मिलते हैं। कहीं कहीं तो 'सर्व' को 'स्रव'' सव्र' तक देखा जाता है। व्यर्थ दुरूह संयुक्त वर्णों की भरमार जैसे पटि के स्थान में 'प्रटि' आदि का होना तथा एक ही में दो भिन्न भिन्न पाठ मिलने से, तथा दुहरे पाठ, और पदों के छूट जाने से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इन लिपियों के खोदनेवाले प्रायः विदेशी वा अनपढ़ थे जिनको पाठ बोल बोल कर खोदवाया गया था। इत्यादि कई प्रकार के अनुमान उक्त अभिलेखों की ध्यानपूर्वक अलोचना से किया जा सकता है।

हमारा विचार है कि हम हिन्दी प्रेमियों के सामने तीनों प्रकार के अभिलेखों को स्थानानुसार अलग अलग देकर अंत में उनके सामने उन अभिलेखों का विशुद्ध मूल अनुवाद आदि प्रस्तुत करें और यदि हो सके तो अंत में विभक्ति के अनुसार उन अभिलेखों में आये पदों की ऐसी सूची लगा दें जिससे इस बात का पता चले कि अशोक के समय में भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों में विभक्तियों के क्या चिह्न प्रचलित थे। हमारा अनुमान है कि ऐसा करना हिंदी के निरुक्त के लिए अत्यंत उपकारी होगा और उन लोगों को भी अपने सिद्धांतों के सत्यासत्य निर्णय करने में लाभदायक होगा जिन लोगों ने बिना सोचे समझे यह सिद्धांत कर रक्खा है कि प्राचीन काल में नाटकों वा साहित्य की प्राकृत का प्रचार भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रांतो में था।

इसमें संदेह नहीं कि ये अभिलेख प्राचीन इतिहास के जानने में भी बहुत सहायक हो सकते हैं

पर हिंदी भाषा की निरुक्ति के लिए हिंदी-प्रेमियों को उनका ज्ञान होना अत्यंतावश्यक है।

जगन्मोहनवर्म्मा

—:०:—

(१) आदेशाभिलेख।

गिरनार।

[राजपूताना-लिपि-ब्राह्मी]

(१)

इयं धंमलिपी देवानं प्रियेन प्रिय दसिना राञा लेखापिता, इध न किंचि जीवं आरभित्वा प्रजूहितव्यं, नच समाजो कतव्यो। बहुकं हि दोसं समाजम्हि पसति देवानं प्रियो प्रियदसि राजा। अस्ति पि तु एक चा समाजा साधुमता देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो। पुरा महानसम्हि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो अनुदिवसं बहूनि प्राण सतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय। से अज यदा अयं धंमलिपी लिखिता ती एव प्राणा आरभरे सूपाथाय—द्वो मोरो एको मगो। सोपि मगो न ध्रुवो। एते पि ती प्राणा पछा न आरभिसरे।

(२)

सर्वत विजितंहि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो एवमपि प्रचंतेसु यथा चोड़ा पाड़ा सतियपुतो केतलपुतो आ तंबपंणी अंतियको योनराजा ये वापि तस अंतियकस सामीपं राजानो सर्वत्र देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो द्वे चिकिछा कता—मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च। ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च; मूलानि च फलानि च यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च। पंथेसु कूपा च खानापिता व्रछा च रोपापिता परिभोगाय पसुमनुसानं।

(३)

देवानं प्रियो प्रियदसि राज एवं आह द्वादस वासाभिसितेन मया इदं आञपितं, सर्वत विजिते मम युता च राजुके च प्रादेसिके च पंचसु पंचसु वासेसु अनुसंयानं नियातु, एतायेव अथाय, इमाय धंमानुसस्टिय यथा अञाय पि कंमाय। साधु मातरि पितरि च सुस्रूसा मितासंस्तुत ञातीनं बाम्हणसमणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अपभांडता साधु। परिसापि युते आञपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च।

(४)

अतिकातं अंतरं बहूनि वाससतानि वढितो एव प्राणारंभो विहिंसा च भूतानं ञातिसु असंप्रतिपती ब्राम्हण स्रमणानं असंप्रतिपती। त अज देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो धंमचरणेन भेरीघोसो अहो धंमघोसो विमानदसणा च हस्तिदसणा च अगिखंधानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्वा जनं। यारिसे बहुहि वाससतेहि न भूतपुवे तारिसे अज वढिते देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो धंमानुसस्टिया अनारंभो प्राणानं अविहीसा भूतानं ञातीनं संपटिपती ब्राह्मण स्रमणानं संपटिपती मातरि पितरि सुस्रुसा थेर सुस्रुसा। एस अञे च बहुविधे धंमचरणे वढिते वढयिसति चेव देवानं प्रियो प्रियदसि राजा धंमचरणं इदं। पुत्राच पोत्रा च प्रपोत्राच देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो वढयिसंति इदं धंमचरणं आव संवटकपा। धंमंम्हि सीलम्हि तिष्टंतो धंमं अनुसासंति। एस हि सेस्टे कंमेया धंमानुसासनं धंमचरणो पि न भवति असीलस। त इमम्हि अथम्हि वधी च अहीनी च साधु। एताय अथाय इदं लेखापितं, इमस अथस वधि युजंतु हीनि च मा लोचेतव्या। द्वादस वासाभिसितेन देवानं प्रियेन प्रियदसिना राजा इदं लेखापितं।

(५)

देवानं प्रियो प्रियदसि राजा एवं आह कलाणं दुकरं ये अ......कलाणेस सो दुकरं करोति। त मया बहु कलाणं कतं। त मम पुता च पोत्रा च परं च तेन य मे अपचं आव संवटकपा अनुवतिसरे तथा सो सुकतं कासति। यो तु एत देसं पि हापेसति सो दुकतं कासति। सुकरं हि पापं। अतिकातं अंतरं न भूतपुर्वं धंममहामाता नाम। त मया त्रैदस वासाभिसितेन धंममहामाता कता। ते सवपासंडेसु व्यापता धमाधिस्टानाय.........धंमयुतस च

योन कंबो (ज) गंधारानं रिस्टिक-पेतेणिकानं ये वा पि अंञे अपराता। भतमयेसु वा............खाय धंमयुतानं अपरिवोधाय व्यापता ते।...बंधनबधस पटिविधानाय .... प्रजाकताभीकारेसु वा थेरेसु वा व्यपता ते...पाटलि पुते च बाहिरेसु च...... ...... े वापि ने अंञे गञातिका सर्वत व्यापता ते। यो अयं धंमनिस्रितो ति व.................. े धंम-महामाता। एताय अथाय अयं धंमलिपि लिखिता।

(६)

देवानं प्रि [यो प्रियद] सि राजा एवं आह अतिकांतं अंतरं न भूतपुर्व सव [का] ल अथ-कंमे वा पटिवेदना वा। त मया एवं कतं सव काले भुंजमानस मे अेारोधनम्हि गभागारम्हि वा विनीतम्हि च उयानेसु च सर्वत्र पटिवेदका स्टिता अथेमे जनस पटिवेदेथ इति। सवत्र च जनस अथे करोमि। यच किंचि मुखतो आञपयामि स्वयं दापकं वा स्रावा-पकं वा य वा पुन महामात्रेसु आचायिक आरोपितं भवति ताय अथाय विवादो निझति व संतो परि-सायं।..

....

....

आनंतरं परिवेदेतव्यं मे सर्वत्र सर्वे काले। एवं मया आञपितं नास्ति हि मे तोसो उस्टानम्हि अथ-संतीरणाय व। कतव्यमते हि मे सर्वलोकहितं। तस च पुन एस मूले उस्टानं च अथसंमीरणा च। नास्ति हि कंमतरं सर्वलोक हितत्पा। य च कंचिं पराक्रमामि अहं किंति[?] भूतानं आनंणं गछेयं इध च नानि सुखापयामि परत्राच स्वगं अराधयंतु। त एताय अथाय अयं धंमलिपी लेखापिता किंति[?] चिरं तस्टेय इति, तथा च मे पुत्रा पोता च प्रपोत्रा च अनुवतरं सव लोकहिताय। दुकरंतु इदं अञत अगेन पराक्रमेन।

(७)

देवानं पियो पियदसि राजा सर्वत इछति सवे पासंडा व सेयु। सवे ते समयं च भावशुधिं च इछति जनो तु उचावचछंदो उचावचरागो। ते सर्वं व कसंति एकदेसं व कसति। विपुले तु पि दाने यस नास्ति सयमे भावसुधिता व कतंञता व दृढ भतिता च निचा बाधं।

(८)

अतिकातं अंतरं राजानो विहारयातां आयासु। एत मगध अंञानि च एतारिसनि अभीरमकानि अहुंसु। सो देवानं पियो पियदसि राजा दसवसा भिसितो संतो अयाय संबोधिं। तेने सा धंमयाता। एतयं होति बम्हणसमणानं दसणे च दाने च थैराणं दसणे च हिरंणपटिविधानो च जानपदस च जानस दसणं धंमानुसस्टी च धंमपरिपुछा च। तदोपया एसा भुय रति भवति देवानं प्रियस प्रिय-दसिनो राञो भागे अंञे।

(९)

देवनं पियो पियदसि राजा एवं आह, अस्ति जनो उचावचं मंगलं करोते आवाधेसु वा आवाह विवाहेसु वा पुत्रलाभेसु वा प्रवासम्हिवा। एतम्हि च अञम्हि च जनो उचावचं मङ्गलं करोते। एतै तु महि-डायो बहुकं च बहुविधं च छुदं च निरथं च मंगलं करोते। त कतव्यमेव तु मंगलं। अपफलं तु खो एतारिसं मंगलं। अयं तु महाफले मंगले य धंम मंगले। तत दासभातकम्हि समयप्रतिपती गुरूणं अपचिति साधु पाणेसु संयमो साधु बम्हणसमणानं साधु दानं। एत च अञं च एतारिसं धंममंगलं नाम। त वतव्यं पिता वा पुतेन वा भात्रा वा स्वामिकेन वा इदं साधु इदं कतव्यं मंगलं आव तस अथस निस्टानाय। अस्ति च वुतं साधु दानं इति। न तु एतारिसं अस्ति दानं व अनगहो व यारिसं धंम्मानु-गहो व। त तु खो मित्रेण वा सुहृदयेन वा अतिकेन वा सहायेन वा अेावादितव्यं तम्हि तम्हि पकरणे इदं कचं इदं साधु इति, इमिना सकं स्वगं आराधेतु इति। किंच इमिना कतव्यतरं यथा स्वगारधि।

(१०)

देवानं प्रियो प्रियदसि राजा यसो व कीति व न महाथावह मंञते अञत तदात्पनो दिघाय च मे जनो धंमसुस्रु सा धंमस्रु तं धंमवुतं च अनुविधियतां।

एतकाय देवानं पियो पियदसि राजा त सवं पारत्रिकाय किंति [?] सकले अप्पपरिस्रव अस। एस तु परिस्रव य अपुंञं। दुकरं तु खो एत छुद केन व जनेन उस्टेन व अञत्र अगेन पराकमेन सवं परिचजित्पा। एत तु खो उस्टेन दुकरं।

(११)

देवा नं प्रियो पियदसि राजा एवं आह। नास्ति एतारिसं दानं यारिसं धंमदानं धंमसंस्तवो वा धंमसंविभागो वा धमसंबधो वा। तत इदं भवति दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती मातरि पितरि साधु सुस्रुसा मितसंस्तुत ञातिकानं बाम्हणसमणानं साधु दानं प्राणानं अनारंभो साधु। एता वतव्यं पिता वा पुत्रेण वा भ्राता वा मितसंस्तुत ञातिकेन वा आव पटिवेसियेहि इदं साधु, इदं कतव्यं। सो तथा करु इलोकस च आरधो होति परत च अनंतं पुंञं भवति तेन धंमदानेन।

(१२)

देवानं पिये पियदसि राजा सवपासंदानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च विविधाय च पूजाय पूजयति ने। न तु तथा दानं व पूजा व देवानं पियो मंञते यथा किंति [?] सारवढी अस सवपसंडानं। सारवढी तु बहुविधा। तस तस तु इदं मूलं य वचिगुती किंति[?] आत्पपासंडपूजा व परपासंडगरहा व नो भवे अपकरणम्हि लहुका व अस तम्हि तम्हि प्रकरणे। पूजेतया तु एव परपासंडा तेन तेन प्रकरणेन एवं करुं आत्प पासंडं च वढयति परपासंडं च उपकरोति। तदंञथा करोतो आत्पपासंड च छणति परपासंडस च पि अपकरोति। यो हि कोचि आत्पपासंडं पूजयति परपासंडं वा गरहति, सवं आत्पपासंडभतिया किंति [?] आत्पपासंड दीपयेम इति, सो च पुन तथ करातो आत्पपासंडं बाढ़तरं उपहनाति। त समवायो एव साधु किंति अंञमंञस धंमं स्रुणारु च सुसुसेर च। एवं हि देवानं पियस इछा च किंति सवपासंडा बहुस्रुता च असु कलानागमा च असु। ये च तत्र तते प्रसंना तेहि वतव्यं देवानं पियो नो तथा दानं व पूजा व मंञते तथा किंति सारवढी अस सर्वपासंडानं बहका च। एताय अथा व्यापता धंममहामाता च इथीझखमहामाता च वचभूमिका च अंञे च निकाया। अयं च एतस फल य आत्पपासंडवढी च होति धंमस च दीपना।

(१३)

....

.... द्वे सतसहस्रमात्रं तत्र हतं बहुतावतकं मते। तता पछा अधना लधेसु कलिंगेसु तिवो धंमवायो..............................

............वधो व मरणं व अपवाहो व जनस। तं बाढं वेदनमतं च गुरु मतं च देवानं......स......

.... सा मातापितरि सुसुसा गुरुसुसुसा मितसंस्तुतसहायञातिकेसु दासभ............................

............हायञातिका व्यसनं प्रायुनणति। तत्र सो पि तेसं उपघातो होति। पटिभागो चेसा सव.........

सान..म्हि यत्र नास्ति मनुसानं एकतरम्हि पासंडम्हि न नाम प्रसादो। यावतको जनोतदा..

न य सकं छमितवे। या च पि अटवियो देवानं प्रियस पिजिते पाति..

............सवभूतानं अछतिं च समयं च समचेरां च मादवं च......................योनराजा परंच तेन चत्पारो राजानो तुरमायो च अंतकिना च मगा च......

....अंधोपिरिंदेसु सवत देवानं पियस धंमानुसस्टिं अनुवतरे। यत पि दूति..

विजयो सवथा पुन विजयो पीतरसोसो। लधा सा पीती होति धंमविजयम्हि..

......विजयं मा विजेतव्यं मञा सरसके एव विजये छतिं च..

......................इलोकिका च पारलोकिका च।

(१४)

अयं धंमालिपि देवानं प्रियेन प्रियदसिना राजा लेखापिता अस्ति, एव संखितेन अस्ति मभमेन अस्ति विस्ततन। न च सर्वं सर्वत घटितं। महालके

हि विजितं बहु च लिखितं लिखापयिसं चेव। अस्ति च एत कं पुन पुन वुत तस तस अथस माधूरताय किति जनो तथा पटिपजेथ। तत्र एकदा समातं लिखित अस देसं व सछाय कारनं व अलोचेत्पा लिपिकरोपराधेन व। ....

शाहबाज़गढ़ी

(पेशावर के पास, लिपि खरोष्ठी)

(१)

अयं ध्रंमदिपि देवन प्रियस रञो लिखपितु हिद नो किचि जीवे अरभित प्रयुहोतवे नोपिच समाज कटव। बहुक हि दोषं समयस देवनं प्रियो प्रियद्रशि रया देखति। अस्ति पि च एकतिए समये स्रे स्तमति देवनं प्रियस प्रियद्रशिस रञो। पुरा महनससि देवनं प्रियस प्रियद्रशिस रञो अनुदिवसो बहुनि प्रणशतसहस्रनि अरभियिसु सुपठाये। सो इदनि यद अयं ध्रंमदिपि लिखित तद त्रयो वो प्रण हंञंति मजुर द्वि २ म्रुगो १। सोपि म्रुगो न ध्रुवं। एत पि प्रणत्रयो पच न अरभिशंति।

(२)

सवत्र विजितै दवनं प्रियस प्रियद्रशि स ये च अंत यथ चोड़ पंडिय सतियपुत्र केरलपुत्र तंबपंनि अंतियोको नम योनरज ये च अंञे तस अंतीयोकस समंत रजनो सवत्र देवनं प्रियस प्रियद्रशिस रञो दुवे चिकिस किट्र मनुशचिकिस च पशुचिकिस च। ओषुढनि मनुसोपकनि च पशोपकनि च यत्र यत्र नस्ति सवत्र हरोपित च वुत च कुप च खनपित प्रतिभोगय पशु मनुशनं।

(३)

देवनं प्रियो प्रियद्रशि रज अहति दवयवसभिसितेन ....सव त्रविजिते युत रजुको प्रदेशिके पंचसु पंचसु वषेषु अनुसंयनं निक्रमतु एतिस वो करण इमिस ध्रंमनुशस्ति यथ अञये पि क्रमये सधु मतपितुषु सुश्रुष मित्रसंस्तुत ञतिकनं ब्रमणश्रमणनं सधु [दनं। प्रणनं सधु अनरभो*] अपवयत अपभंडत सधु। परि पि युत नि गणनसि अणपेशंति हेतुतो च वञनतो च।

(४)

अति क्रतं अंतरं बहुनि वषशतनि वढितो वो प्रणरंभो विहिस च भुतनं ञतिनं असंपतिपति श्रमणब्रमणनं असंप्रतियति। सो अज देवनं प्रियस प्रियद्रशिस रञो ध्रंमचरणेन भेरिघोष अहो ध्रंमघोष विमनन द्रशनं हस्तिनो जोतिकंधनि अञनि च दिवनि रुपनि द्रशयितु जनस। यदिशं बहुहि वषशतेहि न भुतप्रुवे तदिशे अज वढिते देवनं प्रियस प्रियद्रशिस रञो ध्रंमनुशस्तिय अनरंभो प्रणनं अविहिस भुतनं ञतिनं संप्रतिपति ब्रमणश्रमणनं संप्रतिपति मतपितुषु वुढानं सुश्रुष। एत अञं च बहुविधं ध्रंमचरणं वढितं वढिशति चयो देवनं प्रियस प्रियद्रशिस रञो ध्रमचरणो इम... । पुत्र पि च कु नतरो च प्रनतिक देवनं प्रियस प्रियद्रशिस रञो वढेसंति.....ध्रंम चरणं इमं अवकपं ध्रंमे शिले च तिस्तिति ध्रंमं अनुशशिशंति। एतहि स्रे ठं ध्रंमं यं ध्रमनुशनं। ध्रंमचरणं पि च न भोति अशिलस। सो इमिस अथस वढि अहिनि च सधु। एतये अठये इमं दिपिस्त इमिस अठस वढि युजंत हिनि च म लोचेषु। बदयवषभिसितेन देवन प्रियेन प्रियद्रशिन रञइदंनं दिपपितं।

(५)

देवन प्रियो प्रिय द्रशि रय एवं अह ति कलणं दुकरं। यो अ.........कलणस सो दुकरं करोति। सो मय बहु कलं किट्रं। तं मह पुत्र च नतरो च परं च...तेन य मे अप च अछंति अवकपं तथं ये अनुवटिशंति ते सुकिट्रं कषंति। यो चु अतो [कं पिदयेशति] सेदुकटं कषति। पापं हि सुकरं। सो अतिक्रंत अंतरं न भुतप्रुव ध्रमंमहमत्र नम। सो तिदशवषभिसितेन मय ध्रमंमहमत्र किट्र। ते सवप्रषंडेषु वपटध्रंमधिथनये ध्रमंवढिये हिद सुखये च ध्रमंयुतस योनकंबोय-गंधरनं रस्तिकनं पितिनिकनं ये वपि अपरंत। भटमयेषु ब्रमणिभेषु अनथेषु वुढेषु हितसुखये ध्रमयुतस अपलिबोधे वपटते। बंधनबधेस पटिविधनये अपलिबोधये मोछये इयं अनुबधं प्रजव किटभिकरो व

*यहाँ अक्षर नहीं पढ़ा जाता।

महलक व वियपट्र । इअ बहिरेषु च नगरेषु सव्रे षु-ओरोधनेषु भ्रतुनं च मे स्पसुनं च ये व पि अंञे अतिक सवत्र वियपुट । यं इयं ध्रंमनिश्रिते ति व ध्रंमधिथने ति व दनसयुते तिव सवत्र विजिते महध्रंमयुतसि वियपट ते ध्रंममहमत्र'''एतये अठये अयं ध्रंमदिपि दिपिस्त चिरथतिक भोतु तथ च प्रज अनुवततु ।

(६)

देवनं प्रियो प्रियद्रशि रय एवं अहति अतिक्रतं अंतरं नभुतप्रुवं सव्रं कलं अथकमं व पटिवेदन व । तं मय एवं किटं सव्रं कलं अशमनसमे ओरोधनस्पि अभस्पि व्रचस्पि विनितस्पि उयनस्पि सव्रत्र पट्रिवेदक अठं जनस पट्रिवेदेतु मे सवत्र च जनस अठं करोमि । यं पि च किचि मुखतो अणपयमि अहं दपकं व स्रवकं व यं व पन महमत्रनं वो अचयिक अ [रो] पितं भोति तये अठये विवदे व निझति व संतं परिषये अनंतरियेन प्रटिवेदेतवो मे सवत्र च अठं जनस करोमि अहं । यं च किचि मुखतो अणपेमि अहं दपकं व श्रवक व य व पन महमत्रनं अचयिकं अरोपितं भोति तये अठये विवदेसंतं निझति व परिषये अनंतरियेन पट्रिवेदितवो मे सवत्र सव्रं कलं । एवं अणापितं मय । नस्ति हि मे तोषो उठनसि अठसंतिरणये च । कटवमतं मे सव्रलोकहितं । तस च मुलं एत्र उठन अठसंतिरण च नास्ति हि क्रमतरं सव्रलोकहितेन यं च किचि पर-क्रममि किति [?] भूतनं अनणियं व्रचेयं इध च [ष] सुखयमि परत्र च स्पगं अरधेतु । एतये अठये अयि ध्रमंदिपिस्त, चिरथतिक भोतु तथ च मे पुत्र-नतरो परक्रमंतु सवलोलहितये । दुकरं तु खो इमं अंञत्र आग्रे परक्रमेन ।

(७)

देवनं प्रियो प्रिय[द]शि रज सवत्र इछति सव्रे प्रषंड वसेयु । सव्रे हि ते सयम भवशुधि च इछंति । जनो च उचवुचछंदो उचवुचरगो । ते सव्रं व एकदेशं व पि कषंति । विपुले पि चु दने यस, नस्ति सयम भव-शुधि किट्रञत दिढभतित निचे पढं ।

(८)

अतिक्रतं अंतरं देवनं प्रिय विहारयत्र नम निक्रमिषु । अत्र म्रुगय अञनि च हेदिशनि अभिरमनि अभवसु । सो देवनं प्रियो प्रिद्रसि रज दशवषमेसितो सतो निक्रमि सबोधिं । तेनंद ध्रमयत्र । अत्र इयंहोति श्रमणब्रमणनं द्रशने दनं वुढनं द्रशने हिरञे पटिविधने च जनपदस जनस द्रशनं ध्रंमनुशस्ति ध्रंमपरिपुछ च । ततोपयं एष भुये रति होति देवनं प्रियस प्रियद्र-शिस रञोभगि अञे ।

(९)

देवनं प्रियो प्रियद्रशि रय एवं अह ति जनो उच-वुचं मंगलं करोति अबधे अवहे विवहे पजुपदने प्रवसे । एतये अंञे च एदिशिये जनो ब[हु] मंगलं करोति । अत्र तु स्त्रिक बहु च बहुविधं च पुतिकं च निरठ्रियं च मंगलं करोत्ने । सो कटवो च खो मंगलं । अपफलं तु खो एवं । इमं तु खो महफल ये मंगलं । अत्र इम-दसभटकस सम्मप्रटिपति गरुन अपचिति प्रणनं संयम श्रमणब्रमणन दन । एतं अञं च ध्रंममंगलं नम । सो वतवो पि तु न पि पुत्रेन पि स्पमिकेन पि मित्र संस्तुतेन अव प्रतिवेशियेन, इमं सधु इमं कटवो मंगलं यव तस अठस निवुटिय । निवुटस्पि व पन इमं केष [?] येहि एतरके मंगले संशयिके तं । सिय वो तं अठं निवटेय ति सिय पन इअलोकचे वोतिथे । इय पुन ध्रंममंगलं अकलिकं । यदि पुन तं अठं न निवटे हिय अथ परत्र अनंतं पुंञं प्रसवति । हंचे पुन अथं नि-वटेति ततो उभयस लध्रं भोति इह च सो अठो परत्र च अनंतं पुंञं प्रसवति तेन ध्रमंमंगलेन ।

(१०)

देवन प्रियो प्रियद्रशि रय यशो वकिट्रि व नो मह-ठवह मञति योपि यशो किट्रि व इछति तदत्तये अय-तिय च जने ध्रंमसुश्रुष सुश्रूषतु मे ति ध्रमंवुतं च अनु-विधियतु । एतकये देवनं प्रिये प्रियद्रशि रय यशो व किट्रि व इछति । यं तु किचि परक्रमति दवनं प्रियो प्रियद्रशि रय तं सव्रं परत्रिकये व, किति (?) सकले अपरिस्रव सिय ति । एषे तु परिस्रवे यं अपुञं । दुकरं तु खो एषे खुद्रकेन वग्रेन उसटेन व अंञत्र अग्रेन परक्रमेन सवं परितिजितु । एतं चु [उसटे दुकटं]

(११)

देवनं प्रियो प्रिद्रशि प्रिद्रशि रय एवं ग्रह ति, नस्ति एदिशं दनं यदिशं ध्रमदनं ध्रमसंस्तव ध्रंमसविभगो ध्रमसबंधो। तत्र एतं दसभटकनं सम्मप्रटिपति मतपितुषु सुश्रुषमित्र संस्तुत अतिकनं श्रमणब्रमणनं दनं प्रणने अनंरभो। एतं वतवो पितुन पि पुत्रेन पि भ्रतुन पि समिकेन पि मित्रसंस्तुतेन अव प्रतिवेशियेन इमं सधु इमं कटवो। सो तथ कंतं इअलोकं च अरधेति परत्र च अंतरे पुंञं प्रसवति तेन ध्रमदनेन।

(१२)

देवनं प्रियो प्रियद्रशि रय सव्र प्रषंडनि प्रव्रजित ग्रहठनि च पुजेति दनेनविविधये च पुजये। नो चु तथ दनं व पुज व देवनं प्रियो मञति तथकिति। सलवढ़ि सिय सवप्रषंडनं। सलवढ़ि तु बहुविध। तस तु इयो मुल यं वचगुति किति [?] अत प्रषंडपुज व परप्रषंडगर-[ह] न व नो सिय अप्रकरणसि, लहुक व सिय तसि तसि प्रकरणे। पुजेतविय व चु परप्रषंड तेन तेन अ-करणेन। एवं करंतं अतप्रषंडं वढेति परप्रषंडसपि च उपकरोति। तद अञथ करत च अतप्रषंडं छणति परप्रषंडस च अपकरोति। यो हि कोचि अतप्रषंड पुजेति परप्रषंडं गरहति सव्रे अतप्रषंडभतिय व ; किति अतप्रषंडं दिपयमि ति। सो च पुन तथ करंतं [सो च पुनतथ करंत *] वढतरं उपहंति अतप्रषंडं। सो सयमो व सधु ; किति [?] अंञमञस ध्रमो श्रुणेयु च सुश्रुषेयु च ति। एवं हि देवनं प्रियस इछ, किति [?] सव्रप्रषंडं बहुश्रुत च कलणगम च सियसु। ये च तत्र तत्र प्रसन तेषं वतवो, देवनं प्रियो न तथ दनं व पुज व मञति यथ किति [?] सलवढ़ि सिय ति सव्र-प्रषंडनं बहुक च। एतये [अथये] वपट ध्रमंमहमत्र इस्त्रिधियछमहमत्र वच भुमिक अञे च निकये। इमं च एतिस फलं यं अतप्रषंडवढि भोति [च] ध्रमस च दिपन।

(१३)

अस्टवषअभिसितस देवन प्रियस प्रियद्रशिस रञो कलिग विजित दियधमत्रे प्रणशतसहस्रे येततो अपवुढे शतसहस्रमत्रे तत्र हते बहुतवतके मुटे। ततो पछ अधुन लधेषु कलिंगेषु तिव्रे ध्रंमपलनं ध्रंमकमत ध्रमंनुशस्ति च दवनं प्रियस। सो अस्ति अनुसोचनं देवन प्रियस विजिनितु कलिंगनि। अविजितम्हि विजितमनिये तत्र वधो व मरणं व अपवहो व जनस। तं बढं वेदनियमतं गुरुमतं च देवनं प्रियस। इमं पि चु ततो गुरुमत[त]रं देवनं प्रियस। तत्र हि वसंति ब्रमण व श्रमण व अंञे व पषंड ग्रहथ व येसु विहित एष अग्रभुति सुश्रुष मतपितुषु सुश्रुष गुरुणं सुश्रुष मित्रसंस्तुतसहयञतिकेषु दसभटकनं सम्मप्रतिपति दिढभतित। तेषं तत्र भोति अपग्रथो व वधो व अभिरतन व निक्रमणं। येषं व पि संविहितनं नेहो अविप्रहिनो एतेष मित्रसंस्तुतसहयञतिक व्रसन प्रपुणति। तत्र तं पि तेषवो अपग्रथो भोति। प्रतिभगं चएतं सव्रं मनुशसनं गुरुमतं च देवनं प्रियस। नस्ति च एकतरस्पि पि प्रषंडस्पि न नम प्रसदो। सो यमत्रो जनो तद कलिगे हतो च मुटो अपवधो च ततो शतभगे व सहस्रभगं व अज गुरुमतं वो देवनं प्रियस। येपि च अपकरेय ति छमितव्यमते यो देवनं प्रियस, यं शको छमनये। यपि च अटवि देवनं प्रियस विजिते भोति त पि अनुनेति अनुनिझपेति अनुतपेपि च प्रभव देवनं प्रियस। बुचति तेष किति [?] अवत्रपेयु न च हंञेयसु। इछति हि देवनं प्रियो सवभुतन अछति संयमं संचरियं रभसिये। एषे च मुखमुते विजये देवनं प्रियस यो ध्रमंविजयो, सो च पुन लधो देवनं प्रियस इह च सव्रेषु च अंतेषु अषषु पि योजंनशतेषु यत्र अंतियोकेन चतुरे ४ रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मके नम अलिकसुंदरे नम, निच चोड पंड अव तंबपंनिय एवमेव हिदरज विषवज्रि-योन-कंबोषेषु नभके नभितिन भोज पितिनिकेषु अंध्रपुलिंदेषु सवत्र देवनं प्रियस ध्रंमनुशस्ति अनुवटंति। यत्र पि देवनं प्रियस दुत न व्रचंति तेपि श्रुतु देवनं प्रियस ध्रंमवुटं विधेनं ध्रंमनुशस्ति ध्रमं अनुविधियंति अनुविधिशतिच। यो च लधे एतकेन भोति सवत्र विजयो सवत्र पुन विजयो प्रतिरसो सो। लध भोति प्रिति ध्रंमविजयस्पि। लहुक तु खो स प्रिति। परत्रिकमेव महफलमेञति देवनं प्रियो। एतये च अठये अयो ध्रम-

*पुनरुक्त है।

दिपि दिपिस्त; किति ? पुत्र पपोत्र मे असु नवं विजयं म-विजेतविय मञिषु ... क ... यो विजये छंति च लहुदंड तं च रोचेतु तं एव विज मञ। यो ध्रमविजयो। सो हिदलोकिको परलोकिको। सव्र च निरति भोतु य स्रमरति। स हि हिदलोकिक परलोकिक।

(१४)

अयो ध्रमदिपि देवनं प्रियेन प्रि [द्र]* शिन र ञ दिपपितो अस्ति वो संखितेन अस्ति यो विस्त्रिटेन। न हि सव्रत्र सो सव्रं घटिति। महल के हि विजिते बहु च लिखिते लिख पेशमि चेव। अस्ति च अत्र पुन पुन लिपितं तस तस अठस मधुरिय ये येन जने तथ प्रटिपजेय ति। सो सिय व अत्र किचि असमतं लिखितं देशं व संखये करण व अलोचेति दिपकरस व अपरधेन।

कालसी।

[देहरादून-लिपि ब्राम्ही]

१

इयं धंमलिपि देवानं पियेन पिय दसिना लेखिता हिद ना किछि जिवे आलभितु पजोहितविये नोपिचा समाजे काटविये। बहुकाहि दोसा समाज ना देवानं पिये पियदसी लाजा दखति। अथि पि चा एकतिया समाज साधुमता देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने। पुले महानससि देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने अनुदिवसं बहुनि पान-सहसानि आलभिसु सुपठाये। से इदानि यदा इयं धंमलिपि लेखिता तदा तिंनि येवा पानानि आलभियंति-दुवे मजुला, एके मिगे। से पि च मिगे नो धुवे। एतानि पि च तिंनि पानानि नो आलभियसंति।

२

सवता विजितसि देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने ये च अंता अथा चोडा पांडिया सातियपुतो केललपुतो तंबपंनि अंतियोगे नाम योनलाजा येचा अंत्रेतसा अंतीयोगसा सामंता लाजानो सवता देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने दुवे चिकिसा कटा मनुसचिकिसा चा पसुचिकिसा चा। ओसधानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च अतता नथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। एवमेवा मूलानि चा फलानि चा अतता नथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। मगेसु लुखानि लोपितानि उदपानानि खानापितानि परिभोगाये पसुमनुसानं।

(३)

देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आह दुवाडसवसाभिसितेन मे इयं आनापयिते 'सवता विजितसि ममयुता, लजुके पादेसिके, पंचसु पंचसु वसेसु, अनुसमयानं निखमंतु, एतायेवा अथाये इमाये धंमनुसथिया यथा अंनायेपि कंमाये, साधु मातपितिसु सुसुसा मितसंथुतनातिक्यानं चा, बंभनसमनानं चा साधुदाने, पानानं अनालंभे साधु, अपवियाता अपभंडता साधु। पलिसा पि च युतानि गंननसि अनपयिसंति हेतुवता चा वियंजनते च।

(४)

अतिकंतं अंतलं बहुनि वससतानि वधितेवा पानालंभे विहिसा चा भुतानं नतिनं असंपटिपति समण बंभनान असंपटिपति। से अजा देवानं पियसा पियदसिने लाजिने धंमचलनेना भेलिघोसे अहो धंमघोसे विमनदसना हथिनि आगिकंधानि च अंनानि चा दिब्यानि लुपानि दसयितु जनस। आसदिसे बहुहि वससते हि नाहुत पुलुवे तादिसे अज वढिते देवानं पियसा पियदसिने लाजिने धंमनुसथिये अनालंभे पानानं अविहिसा भूतानं नतिसु संपटिपति बंभनसमनानं संपटिपति मातापितिसु सुसुसा। एस चा अंने चा बहुविधे धंमचलने वधिते वधियिसति चेवा देवानं पिये पियदसि लाजा इमं धंमचलनं। पुताचकं नताले चा पनातिक्या चा देवानं पियसा पियदसिने लाजिने पवढयिसंति चेव धंमचलनं इमं अवकपं धंमसि सिलसि चा चिठितु धंमं अनुसासि संति। एसेहि सेठे कंमं (यं) धंमानुसासनं। धंमचरणे पि च नोहोति असिलसा चा से वधिइमसा अथसा

* यह छूटा है।

अहिनि चा साधु। एताये अथाये इयं लिखिते इमसा अथसा वधि युजंतु हिनिच मा अलोचयिसु। दुवाडस वशाभिसितेना देवानं पियेन पियदशिना लाजिना लेखापितं।

(५)

देवानं पिये पियदसि लाजा अहा। कयाने दुकले। ए आदिकले कयानसा से दुकलं कलेति। से ममया बहुकयाने कटे। ता मम पुता चा नताले चा पलं चा ते हिये अपतिये मे आवकपं तथा अनुवटिसंति से सुकटं कछंति। ये चु हेता देसं पि हापयिसंति से दुकरं कछंति। पापेहि नाम सुपदालये। से अतिकंतं अंतलं नो हुतपुलुवे। धंममहामाता नाम। ते दसवसाभिसितेना ममया धंममहामाता कटा। ते सब पासंडेसु वियापटा धंमाधियानाये चा धंमवढिया हिद सुखाये चा धंमयुतसा योन-कंबोज-गंधालानं एवापि अंने अपलंता। भटमयेसु बंभनिभेसु अनथेसु वधेतु हिद सुखाये धंमयुताये बियापटाते। बंधनबधसा पटि विधानाये अपलिबोधाये मोखाये चा एयं अनुबधं पजावति वा कटाभिकालेति वा महालकेति वावियापटाते ते। हिदा बाहिलेसु चा नगलेसु सवेसु अेालोधनेसु भातिनं चाने भगिनिना एवापि अंने नातिकये सवता वियापटा। ए इयं धंमनिसितेति वा दानंसंयुतेति वा सवता विजितसि मम धंमयुतसि वियापटाते धंममहामाता। एताये अथाये इयं धंमलिपि लेखिता चिलथिक्या होतु तथा च मे पजा अनुवतंतु।

(६)

देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आह अतिकंतं अंतलं नो हुतपुलुवे सवं कालं अठकंमे वापटिवेदनावा। से ममया हेवं कटे सवं कालं अदमनसा मे अेालोधनसि गभागालसि वचसि विनितसि उयानसि सवता परिवेदका अठं जनस पटिवेदतु मे। सवता जनसा अठं कछामि हकं। ये पि चा किछिमुखते आनपयामि हकं दापकं वा सावकं वा ये वा पुना महामातेहि अतिचायिके आ[लो]पितं होति ताये ठाये विवादे निझति वा संतं पलिसाये अनंतलियेना पटि[वेदितवियेमे सवता सवं कालं हेवं आनपयितं ममया। नथि हि मे दोसे व उठानसा अठसंतिलनायेच। कटवियमुते हि मे सव लोकहिते। तसा पुना एसे मुले उठाने अठसंतिलना च। नथि हि कंमतला सवलोकहितेना। यं च किंचि पलकमामि हकं किंति (?) भुता नं अननियं येहं हिद च कानिसुखायामि पलत चा स्वगं आलाधयितु। से एताये इयं धंमलिपि लेखिता चिलठितिक्या होतु तथा च मे पुतदाले पलकमतु सवलोकहिताये। दुकलेच इयं अनत अगेना पलकमेन।

(७)

देवानं पिये पियदसिलाजा सवता इछति। सव पासंड वसेयु। सवे हि ते सयमं भावसुधिचा इछंति। जने चु उचावुचाछंदे उचावुचलागे। ते सवं एकदेशं पि कछंति। विपुले पि चु दानं असा नथि सयमे भावसुधि किटंनाता दिढभतिता चा निचेबाढं।

(८)

अतिकंतं अंतलं देवानं पिया विहालयात्तं नाम निखमिसु। हिदा मिगविया अंनानिचा हेदिसानि अभिला-मानि हुसु। देवानं पिये पियदसि लाजा दसवसाभिसिते संतं निकमिठा संबोधि। तेन ता धंमयाता। हेता इयं होति समनबंभनानं दसने चा दाने च वुधानं दसने च हिरंन पटिविधाने चा जानपदसा जनसा दसने धंमनुसथिचाधंमपलिपुछाच। ततोपया एसे भुयेलातिबिहोतिदेवानं पियसा पियदसिसा लाजिने भागे अंने।

(९)

देवानं पिये पियदसि लाजा आह जने उचावुचं मंगलं कलेति। आबाधसि अवाहसि विवाहसि पजोपदाये पवाससि एतये अंनये चा एदिसाये जने बहुमंगलं कलेति। हेत चु अबकजनियो बहु चा बहुविधं चा खुदा चा निलथियं चा मगलं कलंति। से कटवि चेव खो मंगले अपफले चु खो एसे। इयं चु खो महाफले ये धंममंगले। हेता इयं दासभटिकसि समया-पटिपाति गुलुना अपचिति पनानं सयमे समनबंभनानं दाने। एसे अंने चा हेदिसे तं

धंममंगले नामा। से वतविये पितिना पिपुतेनपिभातिनापि सुवामिकेनापि मितसंथुतिना आव पटिवेसियेनापि इयं साधु इयं कटविये मंगले अवतसा अथसा निवुतिया। इमं कथम इति[?]पहि चले मगले संसयिक्ये से होति। सिया वा तं अठं निवटेया, सिया पुना नो हिदलोकिके च वसे। इयं पुनाधंममंगले अकालिक्ये। हं चे पितं अथं नो निवटेति हिद अठं पलत अनंतं पवसति। हंचे पुनातं अठं निवतैति हिद ततो उभये लधे होति, हिद चा से अठे पलता चा अनंतं पुंनं पसवति तेनं धंम मंगलेन।

(१०)

देवानं प्रिये पियदषिलाजा यसो वा कितिवा नो महथा वा मनति अनता यंपि यसोवा कितिवा इछति तदत्वाये अयतिये चा जने धंमसुसुषा सुसुषातुमेति धंमवतं वा अनुविधियतु ति। पतकाये देवानं पिये पियदसि लाजा यसो वा किति वा इछति। यंचा किछि [प] लकमति देवानं पिये पियदषि लाजा त षवं पालतिक्याय वा किति[?]। सकले अपपलाषवे षियातिति। पषे चु पलिसवे पअपुंने दुकले चु खो पषे खुदकेन वावगेन उषुटेनवा अनत अगेन पलकमेन षुवं पलितिदितु। हेत चु खो उषटेन वा दुकले।

(११)

देवानपिये वियदषिलाजा हेवंहा। नथि हेडिषे दाने आदिषं धंमदाने धंमषंविभगे धंमषंबधे। तत पषे दाषभटकपि षमया पटिपति मातापितिषु षुषुषा मितषंथुतनातिक्यानं समनबंभनानं दानेपानानं अनलंभे। पषे वतविये पितिनापि पुतेपि भातिनापि षवामिक्येनापि मितसंथुताना अवा पटिवेसियेन इयं साधु इयं कटविये। से तथा कलंत हिदलोकिक्ये च कं आलधे होति पलतच अनंत पुंना पसावति तेन धंमदानेन।

(१२)

देवाना पिये पियदषि लाजा षवा पाषंडनि पवजितानि गहथानि वा पुजेति दानेन विविधेन च पुजाये। नो चु तथा दाने वा पूजा वा देवानं पिये मनति अथाकित[?] शालवढि सिया ति शवपाषंडानं। सालवढिना बहुविधि। तश चु इयं मुले अवचगुति किति[?] त अतपाशंडे पुजे पलपाशंड गलहा वा नो शया अपकलनशि लहका वा शिया तशि तशि पकलनशि। पुजेतविय चु पलपाषाड़ा तेन तेन अकालन। हेवं कलत अतपाशड़ा बाढं वढियति पलपाशड पि वा उपकलेति। तदा अंनथा कलत अतपाशड च छनति पलपाशड़ पि अपकलेति। येहिकेछ अतपशड पुनति पलपाषड वा गलहति शवे अतपाशंड भतिया वा किति[?]। अत पाशंडदिपयेम शे च पुना तथा कलं तं बढतले उपहंति अतपाषंडषि समवाये व षाधु किति[?] अंनमनषा धंमं षुनेयु चा षुषुषेयु चा ति। हेवं हि देवानं पियषा इछाकिति[?] सवपाषंड बहुषुता चा कयानागा च हुवेयु ति। पव तत तता पषंडन तेहि वतविये देवाना पिये नो तथा दानं वा पुजा वा मंनति अथा किति, षालवढि शिया षवपाषंडतिं बहुका चा। पतायाथाये वियापटा धंममहामाता इथिधियखमहामाता वचभुमिकया अने वा निकाया। इयं च पतिषा फले यं अतपाषंडवढि चा होति धंमष चा दिपना।

(१३)

अठवषाभिसितशा देवानं पियष पियदषिने लाजिने कलिग्या विजिता। दियाढमात पानषतहसे येतफा अपवुढे शतषहषमाते तत हते बहुतावंतके वा मटे। तता पछा अधुना लधेषु कलिग्येषु तिवे धंमवाये धंमकामता धंमानुषथि चा देवानं पियषा। शे अथि अनुशये देवानं पियषा विजिनितु कलिग्यानि। अविजितंहि विजिनमने पतता वधं वा मलने वा अपवहे वा जनषा। षे बाढ वेदनियमुते गुलुमुते चा देवानं पियषा। इयंपि चु ततो गलुमततले देवानं पियषा। सवता वषति बंभना वा षम वा अने वा पाशंड गिहथा वा येसु विहिता पष अगभुत-षुषुषा मातापितिषुषुषा गलुषुषा मितषंथुतषहायनातिकेषु दाशभतकषि शमयापटिपति दिढभतिता। तेषं तता होति उपघाते वा वधे वा अभिलतानं वा विनिखमने। येषं वा पि संविहितानं शिनेहे अविपहिने पतानं मित-

शंथुनशहायनातिक्य वियपने पापुनाति। तत षे पि तानमेव उपघाते होति। पटिभागे चा एष षव मनुषानं गुलुमतेचा देवानं पियषा। नाथि चा षे जनपदे यता नथि इमे निकाया आनंता येनेष बंह्मने चा षमने चा नथि चा कुवापि जनपदषि यता नथि मनुषानं एकतलषि पि पाषडषि नो नाम पषादे। षे आवतके जने तदा कलिंगेषु"

"..........षु हते च मटे चा अपवुढे चा तता षतेभागे वा षतषहषभागे वा अज गुलुमते वा देवानंपियषा"

"..नेयु।

इछ.......""षवभु"..................""मयंषंच लियंमदघति। इयंमुवु".....""देवानं पियेषा ये धंम-विजये षे च पुना लधे देवानं पियषा [हि]द च षवेषु च अतेषु अ षषु पियोजनषतेषु अत"। अंतियोगे नाम योन"

"......"पलं चा तैन अतियोगेना चतालि ४ लाजाने-तुलमये नाम अंतेकिने नाम मका नाम अलिकयुदले नाम निचं चोड पंडिया अवं तंबपंनिया हेवमेव हिदलाजा विश-विज-योन-कंबोजेषु नाभके नाभंपंतिषु भोज-पितिनिक्येषु अधपुलिदेषु षवता देवानं पियषा धंमानुसथि- अनुवतंति। यत पि दुता देवानं पियसा नो यंती तेपि सुतु देवानं पिय'य धंमयुतं विधनं धंमानुसथि धंमं-अनुविधियंति अनुविधिपिसंति चा। येसे लधे एतकेना होति सवता विजये पितिलसे से। गधा सा होति पिति धंमविजयषि। लहुका तु खो सा पिती। पालंतिक्यमेवे महफला मंअंति देवनं पियो। एताये चा अठाये इयं धंमलिपि लिखिता किति[?] पुता पापोता मे अ-नवं विजयम विजय'तविय मनिषु। षयकषि नोविजयषि खंति चा लहु दंडता चा लोचेतु तमेव चा विजयं मनतु ये धंमविजये। षे हिदलोकिक्य-पललोकिकये। षे वा च निलति। होतु उयमालति षा हिदलोकिकअपललोकिक्या।

(१४)

इयं धंमलिपि दवानं पियेना पियदषिना लजिना लिखापिता अथि येवा सुखितेन अथि मझिमेना अथि-विथटेना। नो हि सवता सवे घटिते। महालके हि विजिते बहु च लिखिते लेखापेसमि चेव निक्यं। अथि चा हेत पुनंपुन लिपिते तषा तषा अथषा मधु-लियाये येन जने तथा तथा पटिषजेया। षे षिया अता किछि असमति लिखिते दिषा वा षंखेये येकालनं वा अलोचयितु लिपिकलपलाधेनवा।

मनसेहरा।

[हजारा-लिपि खरोष्ठी]

अपि ध्रमदिपि देवन प्रियेन प्रियद्रशिन राजिना लिखपित हिद नो किचि जिवे अरभित प्रयुहोतविये नोपिच समज कटविय। बहुक हि दोष समजस देवनं प्रिये प्रियद्रशि रजख। अस्ति पिचु एकतिय समज सधुमत दवन प्रियस प्रियद्रशिने रजिने। पुर महन-ससि देवन प्रियस प्रियद्रशिस रजिने अनुदिव सं बहुनि प्रणशतसहस्रनि अरभिसु सुपथ्रये से [इदनि यद अपि ध्रंमलिपि लिखित तद तिनि ये प्रणनि अरभियंति] दुवे २ मजुर एके १ म्रिगे। से पि चु म्रिगे नो ध्रुवं एतनि पि चु तिनि प्रणनि पच नो अरभिसंति।

(२)

सवत्र विजितसि दवन प्रियस प्रियद्रशिस राजिने ये च अंत अथ चोड़ पंडिय सतियपुत्र केरल-पुत्र तंबपणि अंतियोके नाम योनरजे ये च अ-तस अंतियोकस समंत रज [नो सवत्र देवनं] प्रियस प्रियद्रशिस रजिने दुवे २चिकिस कटा मनुशचिकिस च पशुचिकिस च। ओसढ़िनि मनुशोपकनि च पशोपकनि च यत्र यत्र [नस्ति] सवत्र हरपित च रोपपित च। एवमेव मूलनि च फलनि च अत्र अत्र नस्ति सव हरपित च रोपित च। मगेषु रुछनि [च रोपि] तनि कू [पनि] [खनपि] तनि पटिभोगये पशुमनुशन।

(३)

देवन प्रिये प्रियद्रशि रज एवं अह। दुवडशवष भिसेतेन मे अयं अणपयिते सवत्र विजितेसि मे युत रजुके प्रदेशिके पंचषु पंचषु वषेषु अनुसंयनं निकमंतु एतये वं अथ्रये इमये ध्रंमनुशस्तिये यथ अंणयेपि कमने। सधु मतपितुषु सुश्रुष मित्र

संस्तुत ञतिकन ं च ब्रमणश्रमननं सधु दने प्रणन अनरभे सधु, अपवयत अपभडत सधु। परिष पि च युतनि गणनसि अणपयिशति हेतुते च वियजनते च।

(४)

अतिक्रतं ग्रंतरं बहुनि वषशतनि वढिते वं प्रणरंभे विहिस च भुतनं ञतिन असंपटिपति श्रमण व्रमणनं असंपटिपति। से अज देवनं प्रियस प्रियद्रशिने रजिने ध्रंमचरणेन भेरिघोषे अहो ध्रंमघोषे विमनद्रशन हस्तिने अगिकंत्रनि अञनि च दिवनि रुपनि द्रशेति जनस। अदिशे बहुहि वषशतेहि न हुतप्रुवे तदिशे अज वढिते देवन प्रियस प्रियद्रशिन रजने ध्रमनुशस्तिय अनरभे प्रणनं अविहिस भुतन ञतिन संपटिपति वमणश्रमणनं संपटिपति मतु पितुषु सुश्रुष वुध्रन सुश्रुष। पषे अञे च बहुविधे ध्रमचरणे वध्रिते। वध्रयिशति येव देवन प्रिये प्रियद्रशि रज ध्रंमचरण इम। पुत्र पि च कु नतरे च पनतिक देवनं प्रियस प्रियद्रशिने रजिमे पवढपिशंति ध्रमचरण इमं अव कपं ध्रमे शिले च तिस्तितु ध्रम अनुशशिशंति। पषे हि स्रेठे (कंमं) ध्रमनुशशन। ध्रमचरणे पि च न होति अशिलस। से इमस अथ्रस वध्रि अहिनि च सधु। पतये अथ्रये इमं लिखिते, पतसअनिस वध्र युजतु हिनि च म अनुलोचयिसु। दुवदश वषभिस्तितैन दवन प्रियेन प्रियप्रिद्रशिन रजिन इयं लिखपिते।

(५)

देवनं प्रिये प्रिये प्रियद्रशि रज पवं अह कलणं दुकरं। ये दुकरं अदिकरे कयणस से दुकरं करोति। तं मय बहु कयणे कटे। तं म पुत्र च नतरे परं च तेन ये अपतिये मे अवकपं तथं अनुवतिशति से सुकर कषति। ये चु अत्र देश पि हपेशति से दुकट कषति। पपे हि नम सुपदरे व। से अतिक्रतं ग्रंतरं न भुतप्रुव ध्रममहमत्र नम। से त्रेडसशवषभिस्तितेन मय ध्रम महमत्र कट। ते सव्र पषडेषु वपुट ध्रमधिथनये च ध्रमवध्रिय हिद सुखय च ध्रमयुतस योन-कंबोज गंधरन रट्क पितिनिकन ये वपि अञे अपरत। भटमयषु व्रमणिभ्येषु अनथेषु वुध्रेषु हिदंसुखये ध्रमयुत अपलिबोधये वियपुट ते। बधनं बध स पटिविधनये अपलिबोधये मोछये च इयं अनुवध पज ति व क्रट भिकर ति व महलके ति व वियप्रटते। हिदं बहिरेषु च नगरेषु सव्रेषु श्रोरोधनेषु भतन च स्पसुन च ये पि श्रंञे ञतिके सव्रत्र वियपट। प इयं ध्रमनिशिति ति व ध्रमधिथने ति व दनसंयुते ति व सव्रत्र विजितसि म अ ध्रमयुत सिवपुटते ध्रममहामत्र। पतये अथ्रये अयि ध्रमदिपि लिखित, चिरठितिक होतु तथं च मे प्रज अनुवटेतु।

(६)

देवनं प्रिये प्रियद्रशि रज पवं अह अतिक्रंतं ग्रंतरं नो हुतप्रुवे सव्रं कल अथ्रकम व पटिवेदन व। त मय पवं किटं सव्रकलं अशतस मे श्रोरोधने ग्रभगरसि चस्पि विनितस्पि उयनस्पि सव्रत्र पटिवेदक अथ्र जनसपटिवेदेतु मे सव्रत्र च जनस अर्थं करोमि अहं। यंपि किचि मुखति अणपेमि दपकं स्रवकं व यं व पुन महमत्रेहि अचयिके अरोपित होति तये अथ्रये विवदे निझत व संत परिषये अनंतलियेन परिवेदितविये मे सव्रत्र सव्र कल। पवं अणपित मय। नस्ति हि मे तोषे उठनसि अथ्रसंतिरणये च। कटवियमते हि मे सव्र लोकहिते। तस चु पुन पषे मुल उठने अथ्र संतिरण च। नस्ति हि कमतर सव्रलोकहितेन। यं च किंचि क्रममि अहं किति (?) भूतनं अनणियं येहं इग्र च ष सुखयमि परत्र च स्पग्रं अरधेतु ति। से पतये अथ्रये इयं ध्रंमदिपि लिखित चिरठितिकं होतु तथं च मे पुत्र नतरे परक्रमंते सव्रलोकहितये। दुकरे चु खो अञत्र अग्रेन परक्रमेन।

(७)

देवन प्रिये प्रियद्रशि रज सव्रत्र इछति सव्र पषड़ वसेयु। सव्रे हि ते सयम भवशुधि च इच्छंति जने चु उचवुचचदे उचवुचरगे। ते सव्र एकदेशं व पि कषति। विपुले पि चु दने यस नस्ति सयमे अवशुति किटंत द्रिढ़ भसित च निचे बढं।

(८)

अतिक्रतं अंतरं देवेन प्रिय विहरयत्र नम निक्रमिषु । इह म्रिगविय अञ्ञनि च एदिशनि अभीरमनि हुसु । से देवन प्रिये प्रियद्रशि रज दशवषभिसितै संतं निकमि संबोधि । तेनदं ध्रंमेयद्र । अत्र इय हाेति श्रमणब्रमणन द्रशने दने च वध्रन द्रशने च हिञ्ञपटिविधने च जनपदस जनस द्रशने ध्रमनुशस्ति च ध्रमपरिपुच्छ च । ततोपय एषोभुये रति हाेति देवन प्रियस प्रिद्रशिस रजिने भगे अञे ।

(९)

देवन प्रिये प्रियद्रशि रज एवं अह जने उचवुचं मंगलं करोति अवधसि अवहसि विवहसि प्रजोपदये प्रवसस्पि । एतये अंञये च एदिश ये जने बहु मंगलं करोति । अत्र तु बलिक जनिक बहु च बहुविधय च खुद च निरथ्रिय च मंगलं करोति । से [कटवियं] च खो मंगले । अपफले चु खो एषे । इयं चु खो महफले ये ध्रंममंगले । अत्र इयं दसभटकसि समयपटिपति गुरुन अपचिति प्रणन सयमे श्रमणब्रमणन दने । एषे अंञे च एदिशे ध्रंममंगलं नम । से वतविये पितुन पि पुत्रेन पि भतुन पि स्पमिकेन पि मित्रसंस्तुतैन अव पटिवशियेन पि, इयं साधु इयं कटविये मगले अव तस अथ्रस निवुटिय । निवुटसिव पुन इम केषमिति । एहि अञकम...शशयिके से ...सियवतं अथ्रं निवटेय, सिय प ननो इह च लोकि च वसे । इयं पुन ध्रममंगले अकलिके । हचे पि तं अथ्रं न निवटेति हिद[अ...परत्र]......अनंतपुंञं प्रसवति । ह चे पुना तं अथ्र निवटेति हिद ततो उभयस व लधे होति हिद च से अथ्रे परत्र च अनंतं पुंणं प्रसवति तेन ध्रममगलेन ।

(१०)

[देवान] प्रिये प्रियद्रशि रज यशो व किटि व न महथ्रवहं मञति अंतर यं पि यशो व किटिव इछति तदत्तये अयतिय च जने ध्रमसुश्रुष सुश्रुषतु मे ति [ध्रमम] तं अनुविधियतु ति । एतकये देवन प्रिये प्रियद्रशि रज यशो व किटि व इछति । ए तु किचि परक्रमति देवनं प्रिये प्रियद्रशि रज तं सव्रं परत्रिकये व । किति (?) [सका] अपपरिसव सिय तिति । पेष तु परिसवे ए अपुञं । दुकुरं चु खो एषे खुद्रकेन व वग्रेन उसटेन व अञत्र अग्रेन परक्रमेन सवं परिति [ज] तु । एषे तु खो उसटेन वदुकर ।

(११)

[देवनं] प्रिये प्रियद्रशि रज एवं अह नस्ति [हे] दिशे दने अदिशे ध्रमदने ध्रमंसस्तवे ध्रमंसंविभगे ध्रंमसंबंधे । तत्र एषे दसभटकस समयसंपटिपति मतपितुषु [सुश्रुष मित्र] संस्तुतञतिकन श्रमणब्रमणन दने प्रणन अनरंभे । एषे वतविये पितुन पि पुत्रेन पि भतुनपि स्पमिकेनपि मित्रसस्तुतेन अव परिवेशियेन, इयं सधु इयं कटविये । सेतथ करतं हिद लोक च अरधेति परत्र च अनंतं पुञं प्रसवति, तेन ध्रंमदनेन ।

(१२)

[देवन] प्रिये प्रियद्रशि रज सव्र प्रषंडनि प्रव्रजितनि गहथनि च पुजेति दनेन विविधये च पुजय । नोजु तथ दन व पुज व देवनं प्रिये मञति अथ किति (?) सलवढ़ि सिय सव्रप्रषंडन ति । सलव्रुढ़ि तु बहुविध । तस चु इयं मुले अं वचगुति, किति (?) अतप्रषंडपुज व परपषंडगरह व नो सिय अप करणसि लहुक व सिय तसि पकरणसि । पुजेतविय व चु परपषंड तेन तेन अकरेन । एवं करतं अतमप्रषड बढं वढयति परपषंडस पि च उपकरोति । तदञथं करतं अतमपषंड च छणति परपषड्स पिच अपकरोति । ये हि केचि अतमपषड पुजेति परपषड व गरहति सव्रे अतमपषड भति यव, किति (?) अतमपषड दिपयमति [सोच] पुन तथ करतं बधंतरं उपहनति अतमपषड । से समवय व सधु किति (?) अणमणस ध्रमं श्रुणेयु च सुश्रुषेयु च ति । एवं हि देवनं प्रियस इछ किति (?) सव्रपषड बहुश्रुन च कयणगम च हवेयु ति । ए च तत्र तत्र प्रसंनतेहि वतविये दवन प्रिये नो तथ दनं व पुजं व मञति अथ किति (?) सलवढि सिय सव्रपषडन बहुक च । एत ये अथ्रये वपुट ध्रममहमत्र इस्त्रिभ्रछमहमत्र व्रचभुमिक अञे च

निकय। इयं च एतिस फले यं अतमपषड वढि च भोति ध्रमस च दिपन।

(१३)

..........................कालग..........य..............

प्रणशा...

.........पछ अधुन लधेषु कलिगषु.......................

.......................मनुश च.................................

.........अपवहे व जन.....................से.........

वेदनियम ....

.........एष अग्रभु ......सुश्रुष मतपिषु.....सुश्रुष.....

गुरुसुश्रुष मित्रसंस्तु............वग्रभि.........नं व विनि-

क्रमणे। येषं व पि संवि..........नं सिनेहे अवि प्रहिने एत

.........मित्रसं...

.........सत्र्व मनुशनं गुरुमते च देवनं प्रियस। नस्ति च से जनपद यत्र नस्ति इमे निकय अ.........येनेष पिजने.........सि...................................नोनम प्रसदे। से यवतके जने तद कलिगेषु हते च..............अपवुढे च तत शतभगे व सहस्रभगे अज गुरुम.....देवनं— प्रियस।.........क.........मितवि.................... य पि च अटवि देवनं प्रियस विजितसि होति त पि अनुनयति अनुनिभपये ति अनुतपे पि च प्रभवे देवनं प्रियस। वुचति तेषं..................वनं प्रिये.................................

.........मुते विजये देवनं प्रियस ये ध्रंमविजये सेच पुन-लधे देवनं प्रियस हिद च सव्रेषुच अंतेषु अषुषु पिय ....त.....षु.........योक नम योन ....मके नम अलिकसुदरे नम निचं च चोड पंडिय अं तवपंनिय एवमेव.........रज विषवज्रियोनक.........षु अंधप.........

..........................न प्रियस नो यंति तेपि श्रुतु देवनं प्रियस ध्रमवुतं विधनं ध्रंमनुशस्ति ध्रंमं अनु-विधियंतिं अनुविधियिसंति च य.....तकेन होति

.....विज...प्रिये। एतये अथ्रये इसं ध्रमलिपि लिखित किति[(१)] पुत्र प्रपोत्र मे अ.........नव..........................लोकिके। सत्रें च निरति होतु यऋमरति सोहि हिद लोकिक पर-लोकिक।*

* मनसेहरा में चौदहवाँ आदेश नष्ट हो गया है।

विशेषः—इन चारों स्थानों के अतिरिक्त उडेसा में धौली और मद्रास में जैागडा में भी आदेशाभिलेख मिलते पर वे पूरे नहीं है इसीलिये यहाँ उनके पाठ नहीं दिये गये।

अनुवाद

[गि = गिरिनार, का = कालसी, शा = शाहबाजगढ़ी, म = मनसेहरा]

(१)

यह धर्मलिपि देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा ने लिखाया है। यहाँ किसी जीव को आलंभन (मार) करके होम न किया जाय और न समाज किया जाय। देवानं प्रिय प्रियदर्शी राजा को समाज[१] में बहुत दोष दिखाई पड़ते हैं। देवानां प्रिय प्रियदर्शी को केवल एक प्रकार का ही समाज (अर्थात् साधु समाज वा धर्म समाज) साधु (अच्छा) जान पड़ता है। पहले देवानं प्रिय प्रियदर्शी राजा के महानस (सूपागार) में प्रति दिन अनगिनत लाखों प्राणी सूप के लिये मारे जाते थे। वहां आज से जब से यह धर्म लिपि लिखाई गई अब केवल तीन ही प्राणी सूप के लिये मारे जायँगे—दो मोर और एक मृग—वह मृग भी ध्रुव नहीं है। ये भी तीन प्राणी पीछे* नहीं मारे जायँगे।

(२)

देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अपने उन राज्यों में जिसे विजय किया है और अपने सीमावर्ती राज्य में, जैसे चोड़ा, पांड्या, शातिपुत्र, केरलपुत्र, तथा यवनराज अंतियोक और उसके समीप वर्ती† राजाओं के राज्य में सर्वत्र दो प्रकार की

१—प्राचीनकाल में लोग नैमित्तिक वा आहूत उत्सवों पर किसी नियत स्थान में इकट्ठे होते थे जहाँ उन लोगों के खान पान आमोद प्रमोद आदि का प्रबंध रहता था इसे समाज कहते थे। पुराणों और बौद्ध ग्रंथों में इसका वर्णन प्रायः मिलता है।

*'का' में 'पीछे' नहीं है।

† 'गि' के अतिरिक्त अन्यत्र 'सामंत' पाठ है।

चिकित्सा नियत की है—मनुष्य-चिकित्सा और पशुचिकित्सा। जहां जहां मनुष्योपयोगी और पशुपयोगी ओषधियाँ न थीं वहां वहां सर्वत्र ओषधियों को लेजाकर लगवाई है। 'जहां फूल फल (केवृक्ष) न थे वहां मूल और फल (के वृक्ष) लेजाकर बैठवाया है' * । मनुष्य और पशुओं के सुख के लिये मार्गों पर † कूये खोदाये गये हैं और पेड़ लगवाये गये हैं।

(३)

देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा यह कहता हैः— आज मैं अपने अभिषेक से बारहवें वर्ष यह आज्ञा देता हूँ:—उस राज्य में जिसे मैंने विजय किया है मेरे युक्त, ‡ राजुक और प्रादेशिक, पाँचवें पाँचवें वर्ष इक काम के लिये अर्थात् धर्मानुशासन के लिये उसी प्रकार अनुसंयान (दौरा) पर निकला करें जैसे वे अन्य कामों के लिये निकला करते हैं ; [वह धर्मानुशासन यह है] "माता पिता की सुश्रूषा, मित्र संस्तुत और ज्ञातिवालों [की शुश्रूषा] श्रमण और ब्राह्मणों [की शुश्रूषा] अच्छी है। दान देना अच्छा है, प्राणों का अनारंभ (यज्ञों में पशुबलि न करना] अच्छा है, अल्पव्ययता (थोड़ा व्यय करना) और अल्पभांडता (थोड़ी पूँजी रखनी) अच्छी है" परिषद * भी युक्त और गणों को हेतु और व्यंजन से यह आज्ञा दे।

(४)

बहुत दिन हुए, सैकड़ों वर्ष बीत गये [यज्ञों में] पशुओं का आलंभन और जीवहिंसा बढ़ती गई, जातिवालों का अनादर और श्रमणों और ब्राह्मणों का अपमान होता गया। उसे आज देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण ने भेरि घोष से—अहो वह धर्म घोष है—विमान दर्शन, हस्तिदर्शन, अग्निस्कंध (आतशबाजी) और अन्य दिव्य रूपों को दिखा कर, जैसे पहले सैकड़ों वर्ष से न हुआ था वैसा आज देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन

* यह वाक्य 'शा' में नहीं।

† 'शा' में 'मार्गों पर' नहीं है।

‡ युक्त दो प्रकार के होते थे एक राजुक (Imperial) दूसरे प्रादेशिक (Provincial)। राजुक युक्तों का नियोग राजा करता था और प्रदेशिकों का नियोग प्रादेशिक राज-पुरुष करते थे।

कलिंग के 'तोसली' के अभिलेख में अशोक ने लिखा था कि 'नगर के शासक लोग सदा नागरिकों का व्यर्थ अकारण बंधन और दंड रोकने का प्रयत्न करें। इस आज्ञा के धर्मानुसार पालन के लिये मैं पांच पांच वर्ष पर नरम और दयालु पुरुषों को बाहर भेजा करेंगा जिन्हें जीवन की पवित्रता का ख्याल होगा और जो इस काम को ध्यान में रखते हुये मेरी शिक्षा के अनुसार चलेंगे। उज्जयिनी के राजकुमार ऐसे लोगों को प्रति तीसरे वर्ष बाहर भेजा करेंगे। तक्षशिला के लिये भी यही आज्ञा है' इनमें वे पुरुष जिन्हें महाराज अशोक स्वयं भेजते थे 'राजुक' युक्त और जिन्हें उज्जयिनी और तक्षशिला के राजकुमार भेजते थे 'प्रादेशिक' युक्त कहलाते थे। इन्हीं युक्तों के सिपुर्द महाराज अशोक ने धर्मानुशासन का काम भी किया था और उन्हें आज्ञा दी थी कि वे इसे उसी प्रकार किया करें जैसा वे अन्य कामों को करते थे।

* मंत्रिपरिषद् जिसका वर्णन कैटिलीय अर्थशास्त्र अधिकरण १ अध्याय १५ में है। जिसके विषय में लिखा हैः—

मंत्रिपरिषदं द्वादशामात्यान्कुर्वीतेति मानवाः।
'षोडशेति' बार्हस्पत्याः।
विंशतिमित्यौशनशाः।
यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः॥

ते ह्यस्य स्वपक्षं परपक्षं चिंतयेयुः। अकृतारम्भमारब्धानुष्ठानमनुष्ठितविशेषं नियोगसम्पदं च कर्मणां कुर्युः। आसन्नैः सह कर्य्याणि पश्येत्। अनासन्नैस्सह पत्रसम्प्रेषणेन मन्त्रयेत्॥

अनुमान होता है कि अशोक को भय था कि परिषद् उसके इस काम का कि वह 'श्रमणों और ब्राह्मणों की शुश्रूषा को समान बताता है और यज्ञ में पशु आलंभ को गर्हित बताता है' अनुमोदन न करेगी तभी उसने यह लिखा कि 'परिषद् भी युक्त और गणों को यह आज्ञा हेतु और व्यंजन से दे।' ऐसा हुआ भी, परिषद् ने उसके इस काम का अनुमोदन नहीं किया, इसीलिये उसने दूसरे वर्ष विवश हो कर इस काम के लिये 'धर्म महामात्रा' नियत किया जिसके नियोग का वर्णन पाँचवे शासनाभिलेख में है।

से (यज्ञों में) पशुओं का अनारंभ भूतों की अहिंसा जातिवालों का आदर और श्रमणों और ब्राह्मणों का मान बढ़ गया।

इसे और अन्य अनेक प्रकार के धर्माचरणों को बढ़ाया है और इस धर्माचरण को देवानां प्रिय और भी बढ़ावेगा। देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा के पुत्र और प्रपौत्र इस धर्माचरण को संवर्तकल्प तक बढ़ाते ही जावेंगे। धर्म और शील में स्थित [पुरुष] ही धर्म का अनुशासन कर सकते हैं। यही श्रेष्ठ कर्म है जिसे धर्मानुशासन कहते हैं, अशील [पुरुष का किया] धर्मानुशासन नहीं होता। इस लिये इस अर्थ में वृद्धि, और अहीनता ही अच्छी है। इस लिये यह लिखाया गया, इस अर्थ की वृद्धि ही के लिये लोग योग दें और हीनता का ध्यान भी न करें। यह धर्मानुशासन देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अपने अभिषेक के बारहवें वर्ष लिखाया।

(५)

देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा यह कहता हैः—कल्याण करना दुष्कर है। जो अति कर्तव्य कल्याण को करता है वह दुष्कर [काम] करता है। मैंने बहुत कल्याण किया। मेरे पुत्र, नाती* और मेरे [भावी] अपत्य जो संवर्तकल्प तक इसका अनुसरण करेंगे वह सुकृति करेंगे। जो इसे कुछ भी विरुद्ध करेंगे वे दुष्कृति करेंगे। पाप करना सरल है।

बहुत दिन हुए आज से पहले कभी धर्म महामात्र का नाम तक नहीं [सुनागया] था। मैंने अपने अभिषेक के तेरहवें वर्ष † धर्ममहामात्रा नियत किया।

* 'शा' 'म' और 'का' में 'पौत्र' शब्द है।

† परिषद से बिगड़ कर अशोक ने धार्मिकसंशोधन के लिये धर्म महामात्रा नियत किया।

वे [धर्ममहामात्र] सब पाषंड * [धार्मिक क्रिया कलाप-कर्मकांड] में धर्माधिष्ठान और धर्मवृद्धि के लिये, और धर्म युक्त लोगों के हित और सुख के लिये, व्याप्त (काम करते) रहेंगे। यवन, कांबोज, गांधार, पितिनिक वा अपरांत के [लोगों के] तथा भटमय, ब्रह्मनिभ, अनाथ [और] बुड्ढों के हित और सुख के लिये "और धर्मयुक्त लोगों के अपरिबोध [कि कोई विक्षेप न करे] के लिये"† व्याप्त रहेंगे। बंधन और वध के प्रतिविधान, अपरिबोध, और मोक्ष के लिये यह अनुबंध प्रजा, कृताभिकारी वा महल्लकों ‡ [सब] पर व्याप्त है। यहां से बाहर के नगरों में हमारे भाई बहिनें और अन्य जाति वालों के अवरोधनों (अंतःपुरों) में सर्वत्र यह [अनुबंध] व्याप्त रहेगा। चाहे वह धर्म निश्रित हो वा धर्माधिष्ठान § हो वा दानसंयुत हो मेरे धर्मयुक्त विजित राज्य में सर्वत्र धर्म महामात्रा (का अधिकार) व्याप्त होगा। इसी प्रयोजन के लिये यह धर्मलिपि लिखी गई। 'यह चिरस्थायी हो और मेरी प्रजा इसके अनुसार वर्ते'।§§

—:०:—

* मिलाओः—तस्माद्देवताश्रमपाषण्डश्रोत्रियपशुपुण्यस्थानानां बालवृद्धव्याधितव्यसन्यनाथानां स्त्रीणां पश्येत्' कौटिलीय अर्थशास्त्र अधि० १ अध्या० १९ इससे अनुमान होता है कि पाषंड पहले अच्छे अर्थ में प्रयोग होता था ईसामसीह के जन्म के पीछे यह ढोंग और भडंग के अर्थ में प्रयोग होने लगा और इसी पिछले अर्थ को ग्रहण कर मनुस्मृति में "पाषंडिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्" लिख गया है, जिससे वर्तमान मनुस्मृति का काल अशोक से पीछे का सिद्ध होता है।

† 'का' में इस वाक्य के स्थान में केवल 'धंमयुताये' अर्थात् धर्मयुक्त बनाने के लिये' मात्र है।

‡ 'गि' में महल्लक की जगह थेर (स्थविर) आया है।

§ 'का' यहां 'धर्मधिष्ठान' पद नहीं हैं।

§§ 'गि' में ये अंतिम वाक्य नहीं हैं।

सभा का कार्य-विवरण

साधारण सभा

शनिवार तारीख २८ मार्च १९१४ संध्या के ५½ बजे स्थान सभा-भवन

(१) गत अधिवेशन (तारीख २८ फरवरी १९१४) का कार्य विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(२) सभासद होने के लिए निम्न लिखित सज्जनों के फ़ार्म उपस्थित किए गए:—

(१) बाबू माताप्रसाद, ईश्वरगंगी, काशी २)

(२) बाबू गुलाबचंद मोहर्रिर मुंशी पीताम्बरप्रसाद वकील महल्ला मिलोनीगंज—जबलपुर—३)

निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जाँय।

(३) निम्नलिखित पुस्तकें धन्यवाद-पूर्वक स्वीकृत हुईं:—

हाजीअलीख़ां, दमोह

हाजी दृष्टान्तमाला

शराब की ऐसी तैसी

वेश्या की यारी

बाबू लक्ष्मीप्रसादसिंह, मंगलपुर, पो० संग्रामपुर, चम्पारन

शाक्तविनोद

दुर्गाविनयपचीसी

पंडित माधव शुक्ल

भारतगीताञ्जली

मंदराज की गवर्नमेंट

A triennial catalogue of manuscripts 1910-1911 to 1912-1913 for the Government Oriental Mss. Library, Madras. Vol. I. Part I A. B. &C.

Indian Antiquary for January and February 1914.

बाबू पन्नालाल जौहरी, काशी

पंनवणा सूत्र

भगवती शतक

संयुक्त-प्रदेश की गवर्नमेंट

List of Sanskrit Jaina and Hindi manuscripts deposited in the Sanskrit College, Benares during the year 1911-1912.

Do. do. during the year 1912-1913.

मुंशी देवीप्रसाद, बिजावर

प्रहलादचरित्र

कुंवर खड्गसिंह वर्म्मा, भरतुआ, पो० शाहपुर, ज़ि० अलीगढ़

संगीतप्रवेश

एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल

Journal and Proceedings of the Society for June, July, August and September 1913.

बाबू पन्नालाल, काशी

सनातन जैन ग्रन्थमाला, चतुर्थ और पंचम खण्ड

बुद्धिमनरंजनप्रकाश भजनावली

(४) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

गोपालदास

सहायक मंत्री।

मनोरंजन पुस्तकमाला।

आदर्श जीवन।

(लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल।)

इस पुस्तक का उद्देश्य युवा पुरुषों के चित्त में अविचल रूप से उत्तम संस्कार जमाना है। यह अँगरेज़ी की प्रसिद्ध पुस्तक Plain Living and High Thinking के आधार पर लिखी गई है। इसमें वे साधन बहुत अच्छी तरह बतलाए गए हैं जिनके द्वारा मनुष्य परिवार और समाज अर्थात् घर के भीतर और बाहर सुख और शांति के साथ जीवन निर्वाह कर सकता है। मूल पुस्तक में जहाँ जहाँ दृष्टान्तरूप से यूरप के प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुरुषों से सम्बन्ध रखनेवाली बातें आई हैं वहाँ यथासम्भव इसमें भारतीय इतिहास से ऐसे ऐसे चमत्कारपूर्ण दृष्टान्त दिए गए हैं जिनका प्रभाव देशवासियों के हृदय पर स्वभावतः बहुत अधिक पड़ेगा। इस प्रकार की पुस्तक की हिन्दी में बड़ी आवश्यकता थी। लोग ऐसी पुस्तक ढूँढ़ते थे और नहीं पाते थे। आत्मसंस्कार संबंधी यह पुस्तक हिन्दी में अपूर्व निकली। आत्मबल, आचरण, स्वाध्याय, स्वास्थ्यरक्षा आदि विषयों पर ६ प्रकरण बहुत ही चलती, चटकीली और ज़ोरदार भाषा में लिखे गए हैं जिन्हें पढ़ने से युवा पुरुषों के अन्तःकरण में वे शुभ संस्कार स्थापित हो सकते हैं जिनके बल से मनुष्य कठिनाइयों को कुछ न समझता हुआ प्रसन्नचित्त उन्नति की ओर बराबर बढ़ सकता है। यह पुस्तक प्रत्येक घर में विशेष कर प्रत्येक युवक के हाथ में होनी चाहिए। मूल्य फुटकर १); पुस्तकमाला के ग्राहकों से ॥।); डाकव्यय अलग।

आत्मोद्धार।

(लेखक बा० रामचन्द्र वर्म्मा।)

पुस्तकमाला की दूसरी पुस्तक है आत्मोद्धार। यह अमेरिका के प्रसिद्ध हबशी नेता मि० बुकर टी० वाशिंगटन का जीवनचरित है। वाशिंगटन ने बहुत ही दरिद्र घर में जन्म लेकर जितनी मानसिक और नैतिक उन्नति की है उसे देखकर बड़े बड़े यूरोपियन और अमेरिकन दंग रह गए हैं। मि० वाशिंगटन ने अमेरिका के टस्कज़ी नगर में ३३ वर्ष पहले एक छोटी सी झोपड़ी में जो विद्यालय स्थापित किया था, वह इस समय आदर्श और अच्छे अच्छे विश्वविद्यालयों से बढ़कर समझा जाता है। उनकी योग्यता और उनके विचारों की प्रशंसा अमेरिकन संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति तथा और बड़े बड़े प्रसिद्ध पुरुषों ने की है। इस पुस्तक के पढ़ने से यह बात मालूम हो जाती है कि एक साधारण मनुष्य भी अपने नैतिक बल और सदाचरण की सहायता से कहाँ तक उन्नति कर सकता है। पुस्तक आद्योपांत बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद है। इसमें अनेक ऐसी घटनाओं और सिद्धान्तों का वर्णन है जिनसे पाठकों को बहुत बड़ी शिक्षा मिलेगी। इसके अतिरिक्त इसके पढ़ने से अमेरिका की गत पचास वर्षों की तथा वर्त्तमान स्थिति का भी बहुत कुछ परिचय मिलता है। तात्पर्य्य यह कि पुस्तक अनेक ज्ञातव्य और मननीय विषयों से परिपूर्ण है। प्रत्येक विद्याप्रेमी को इसकी एक प्रति अवश्य अपने पास रखनी चाहिए। मूल्य १) पुस्तकमाला के ग्राहकों से ॥।) डाकव्यय अलग। इस पुस्तकमाला तथा अन्य पुस्तकों के बेचने के लिए परिश्रमी एजेन्टों की ज़रूरत है।

भाग १९ } मई और जून, १९१४. { संख्या ११—१२

बाल-शिक्षा।

साधारण समस्या।

शिक्षा का अरंभ जन्म से ही होना चाहिए।

इस समय जितने सामाजिक परिवर्त्तन अभीष्ट हैं यदि किसी उपाय से वे सब परिवर्त्तन हो जायँ तो भी हमारा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि जब तक पुरुषों और स्त्रियों को भली भाँति योग्य न बना लिया जायगा तब तक वे उच्च आदर्श के अनुकूल नहीं हो सकेंगे और फल यह होगा कि समाज जल्दी जल्दी अवनत हो जायगा। इस प्रकार कृत्रिम उपाय से जो कार्य्य सिद्ध होगा वह आचरण, स्वभाव और संगति के कारण बुरी तरह नष्ट हो जायगा।

यदि आरंभ में शिक्षा की ओर ध्यान न दिया जाय तो उससे होनेवाली क्षति की कभी पूर्त्ति नहीं हो सकती; और इसी कारण बड़े होने पर उसके लिए जो उद्योग होंगे उनका परिणाम उलटा होगा। यह बात अनुभव से सिद्ध है। जिस मनुष्य का स्वास्थ्य युवावस्था में बिगड़ जाता है वह आजन्म उसका दुष्परिणाम भोगता रहता है—अपने शरीर की रक्षा के लिए अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी उसे कोई लाभ नहीं होता। स्वच्छ वायु में रहने, उत्तम और सुपाच्य भोजन करने और यथेष्ट व्यायाम करने पर भी वह प्रायः कोमल और रोगी बना रहता है। पर एक हट्टा कट्टा आदमी किसी प्रकार का संयम न करने पर भी बहुत कम बीमार होता है। इसी लिए कुछ लोग अधिक संयम को बिलकुल व्यर्थ समझते हैं। इसलिए पुरुष या स्त्री के वयस्क होने के समय तक उसका नैतिक आचरण दृढ़ हो जाना चाहिए; नहीं तो आगे चलकर बहुत अधिक प्रयत्न का बहुत थोड़ा फल होगा और थोड़े प्रयत्न का कुछ भी फल न होगा। इस विषय में नैतिक आचरण स्वतंत्र नहीं, वरन् मानवी प्रकृति का अनुगामी है। इन सब बातों से यही तात्पर्य्य निकलता है कि सदाचार की शिक्षा की आवश्यकता जन्म से ही होती है।

शिक्षा व्यवस्थित होनी चाहिए।

बालकों को शिक्षा देते समय अपने उद्देश्य, परिस्थिति औा साधन आदि का ध्यान रखना चाहिए और बीच में उपस्थित होनेवाले नैतिक प्रश्नों का निराकरण करते जाना चहिए।

अव्यवस्थित शिक्षा का फल कभी अच्छा नहीं होता। जब तक किसी रोग की चिकित्सा लगकर न की जाय तब तक वह नष्ट नहीं हो सकता। आपकी कल्पनाएँ चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हों पर जब तक उनका ठीक और पूरा उपयोग न किया जाय तब तक उनका कोई फल नहीं हो सकता। जब तक ठीक ढंग से और पूरी तरह बालकों को शिक्षा न दी जाय तब तक उत्तम और निकृष्ट कल्पनाओं का फल समान ही होता है। उद्देश्य-रहित शिक्षा बहुत ही दुःखदायी होती है। इस प्रकार जब बालक बिगड़ जाते हैं तब माता-पिता दिक़ होकर उनकी ओर ध्यान देना छोड़ देते हैं। फल यह होता है कि बालक बहुत जल्दी खराब हो जाते हैं और उनसे माता-पिता को असह्य कष्ट मिलता है; साथ ही उचित ध्यान और निरीक्षण के अभाव के कारण बालक भी प्रायः दुखी रहते हैं। पर यदि युक्ति-युक्त प्रणाली से बालकों की शिक्षा का पूरा पूरा प्रबंध किया जाय तो इन कठिनाइयों से बहुत रक्षा रहती है।

यदि इस नीति का अवलंबन किया जाय तो केवल आरंभ में ही बहुत सी कठिनाइयाँ होती हैं और तरद्दुद उठाना पड़ता है। पर इस तरद्दुद उठाने और अपने या पराए बालकों के संबंध में अनुभव प्राप्त करने से अंत में उद्देश्य-सिद्धि हो ही जाती है। ये कठिनाइयाँ केवल आरंभ में ही होंगी और आगे चल कर आपके बालक सुधर जायंगे; और तब आपको बहुत ही कम चिंता रह जायगी। इतना होने पर भी यदि बालकों में कोई अनुचित बात रह जाय तो उसके लिए शांत रहना चाहिए क्योंकि बालकों की स्वाभाविक चंचलता रोकना ठीक नहीं है।

शिक्षा का एक निश्चित उद्देश्य होना चाहिए।

दम्पति को इस बात का निर्णय कर लेना चाहिए कि वे अपने बालकों को किस प्रकार की शिक्षा देना चाहते हैं और साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षा का आरंभ जन्म से ही होना उचित है। प्रायः लोग इन बातों का ध्यान नहीं रखते। बालक के जन्म लेने पर माता-पिता को कौतूहल सा होता है और अनिश्चित परिपाटी और विचारों से उनकी शिक्षा आरंभ होती है।

इस कौतूहल के अतिरिक्त लोगों में प्रायः तीन बातें और होती हैं। एक तो यह कि लोग बालक को खिलौना या आमोद प्रमोद का साधन मात्र समझते हैं। जिस प्रकार लोग तमाशा देखने के लिए बंदर के हाथ में शीशा देते हैं उसी प्रकार बालकों का विनोद देखने के लिए लोग उन्हें खराब करते हैं। यदि परिणाम के साथ साथ इस बात का भी ध्यान रक्खा जाय कि बालक पर इन कृत्यों का क्या प्रभाव पड़ता है तो थोड़े से निर्दोष विनोद से कोई हानि नहीं हो सकती। पर जब बालक से सदा इसी प्रकार विनोद किया जाय तो वह अवश्य अनुचित और हानिकारक है।

दूसरी बात यह है कि बालक को लोग दया का पात्र और क्षम्य समझते हैं। उसकी दीनता देख कर दया उत्पन्न होती है और इसी लिए लोग उसे बिना कुछ कहे सुने छोड़ देते हैं। इस प्रकार की दया और उदारता से बालक की बहुत अधिक हानि होती है। नैतिक दृष्टि से इसका परिणाम बहुत ही भयंकर होता है।

तीसरे माता पिता को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि केवल चंचलता या रोने चिल्लाने के कारण बालकों को मारना या बुरा भला कहना बहुत अनुचित है। उन्हें बालकों की चंचलता या रोने चिल्लाने का कारण देखना चाहिए।

बालकों की शिक्षा के संबंध में माता पिता के उद्देश्य इस प्रकार होने चाहिएं।

(क) ज्ञानयुक्त अनुराग से काम लेना चाहिए।

(ख) सुजनता और मृदुलता का कभी हाथ से न जाने देना चाहिए।

(ग) उन्नतिशील और उच्च, व्यक्तिगत तथा सामाजिक आदर्श का अपना पथ-दर्शक बनाना चाहिए। और

(घ) इस आदर्श का दृढ़ता, प्रेम, शांति, प्रसन्नता और दूरदर्शिता पूर्वक संपादन करना चाहिए।

शिक्षक।

इधर कई शताब्दियों से भारत में शिक्षा और शिक्षकों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। साधारणतः बहुत ही थोड़ी योग्यता वाले "गुरु" बालकों को थोड़ा बहुत पहाड़ा पढ़ा देते हैं और उन्हें अक्षर पहचानना सिखला देते हैं। इधर जब से पाश्चात्य शिक्षा का प्रबंध हुआ है तब से इस देश में शिक्षा की स्थिति बहुत कुछ बदल गई है। पर तो भी यह स्थिति सभ्य देशों के शिक्षा-प्रबंध के सामने एक दम अपूर्ण, बल्कि प्रायः नहीं के समान है। यूरोप में कहीं कहीं तो इतना दृढ़ नियम है कि प्रत्येक मनुष्य को शिक्षक का कार्य आरंभ करने से पहले कुछ निश्चित समय तक किसी विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। पर हमारा देश शिक्षा में बहुत ही पिछड़ा हुआ है। प्रायः सभ्य देशों में यह प्रथा है कि बालक को किसी विद्यालय में भेजने से पहले, बहुत ही छोटी अवस्था में किसी अध्यापिका के सुपुर्द कर दिया जाता है। पर हमारे देश में कम से कम पाँच छः वर्ष की अवस्था तक बालकों की शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं किया जाता।

हमारे देश में माताएं अशिक्षिता ही रहती हैं। इसमें संदेह नहीं कि उच्च शिक्षा से स्त्रियों की कोमल प्रकृति बिगड़ कर कठोर हो जाती है। राजनैतिक आदि झगड़ों में पड़ना या जीविका उपार्जन के लिए परिश्रम करना स्त्रियों का काम नहीं है। उन्हें केवल गृहस्थी का प्रबंध और बालकों का पालन पोषण करना चाहिए। पर तो भी स्त्रियों के लिए इतनी शिक्षा और जानकारी की अवश्य आवश्यकता है जिससे वे बालकों को आरंभ से ही कुछ आवश्यक बातों का यथेष्ट ज्ञान करा सकें। पिता को बालक की देख रेख का बहुत ही कम अवसर मिलता है और इसी लिए यह कर्त्तव्य प्रधानतः माता का समझा जाता है।

आजकल जिस ढंगपर बालकों को शिक्षा दी जाती है उससे उनकी विचार, स्मृति और अनुमान-शक्ति नहीं बढ़ने पाती। उन्हें शिक्षा देते समय किसी उच्च आदर्श पर लक्ष्य नहीं रक्खा जाता, केवल एक लकीर सी पीटी जाती है। बालकों पर माता की ममता बहुत अधिक होती है। पर यदि इसमें शिक्षा और अनुभव भी सम्मिलित हो तो वह बहुत अधिक उत्तम और बलवती हो जाती है। सबसे पहली बात तो यह है कि माता-पिता को स्वयं शिक्षित होना चाहिए, दूसरे उन्हें संसार का अनुभव होना चाहिए। उनमें बालकों को घर पर ही उत्तम शिक्षा देने की योग्यता होनी चाहिए। तीसरे जिन लोगों पर उनकी शिक्षा का भार सौंपा जाय, उन्हें शिक्षण के काम में पूरा दक्ष होना चाहिए।

माता-पिता और शिक्षकों में अभेद।

यदि विद्यालयों के अध्यापक पढ़ाने के काम में भली भाँति शिक्षित हों तो बीच बीच में उनके परिवर्त्तन से कोई हानि नहीं हो सकती। जिस विद्यालय के सभी अध्यापक सुयोग्य हों वहाँ उन अध्यापकों में आकृति आदि के अतिरिक्त और किसी प्रकार का भेद नहीं पाया जाता। इसी प्रकार यदि माता पिता और बालकों को आरंभिक शिक्षा देनेवाले गृह-शिक्षा-शास्त्र से भली भाँति अभिज्ञ हों तो कोई हानि नहीं हो सकती। पर अभाग्यवश स्थिति इससे विपरीत ही होती है। उन सबके विचार आदि सदा एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। इससे हानि यह होती है कि बालक के सामने भिन्न भिन्न प्रकार के आदर्श उपस्थित होते हैं जिनमें प्रायः परिवर्त्तन

होते रहने के कारण और भी गड़बड़ होती है। इसलिए माता-पिता को इस कठिनाई का ध्यान रखना चाहिए और यथासाध्य इसे दूर करना चाहिए। सब से अधिक उत्तम यह है कि माता-पिता मिल कर अपने बालकों की शिक्षा और उसकी प्रणाली का एक उपयुक्त नियम निर्द्धारित कर लें। इस प्रकार दाम्पत्य संबंध में भी बहुत कुछ उपकार हो सकता है।

बड़े और छोटे बालक।

जिन लोगों को केवल एक ही संतान हो, उनकी कम से कम एक कठिनता तो अवश्य दूर हो जाती है। हां, बालक की यह हानि अवश्य होती है कि उसे समवयस्क साथी नहीं मिलते। पर जिन लोगों को कई संतानें होती हैं उन्हें यह कठिनता होती है कि प्रायः बालक एक दूसरे का अनुकरण करने लग जाते हैं।

बालकों का यह अनुकरण, विशेषतः उनकी प्रारम्भिक अवस्था में बहुत ही चित्ताकर्षक होता है। बहुत छोटा बालक, जहाँ तक हो सकता है, अपने से बरस दो बरस बड़े बालक का सब बातों में अनुकरण करता है। पाँच बरस की अवस्था तक छोटे बालक के आचार विचार आदि इसी प्रकार के अनुकरण से पुष्ट होते रहते हैं; पर इसके बाद उसकी वह अनुकरण-शीलता जाती रहती है।

बालक एक दूसरे को जो कुछ करते देखते हैं वही स्वयं भी करने लग जाते हैं। यदि आप अपनी सबसे बड़ी संतान को उचित और योग्य शिक्षा दे सकें तो फिर आपको बहुत ही थोड़ा परिश्रम करने की आवश्यकता रह जायगी। बड़ा बालक स्वयं ही शेष छोटे बालकों को शिक्षा दे लेगा और उनके सामने अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करेगा। इसलिए प्रथम बालक की शिक्षा आदि पर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि उसके छोटे भाई बहनों पर उसके आचरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। वास्तव में पहले और सब से बड़े बालक को दूसरों का पथ-दर्शक बनाने के योग्य शिक्षा देनी चाहिए और उन्हें उत्तरदायित्व और सद्गुणों का ज्ञान प्राप्त कराना चाहिये। यदि इस कार्य्य में आप कृतकार्य्य हो गए तो इससे आप और आपके छोटे बालकों का बहुत अधिक उपकार होगा और आपके सब से बड़े बालक में बहुत ही प्रबल नैतिक और मानसिक-शक्ति आ जायगी। इसलिए आपको सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आपका सब से बड़ा बालक दूसरों के लिए शिक्षक और आदर्श हो।

पर यदि आप इसमें कृतकार्य न हो सके तो आपको दूसरी कठिनता यह होगी कि बड़े बालक के दोष शेष छोटे बालकों के लिए अनुकरणीय हो जायँगे। यदि एक बालक उँगलियाँ चटकाता हो, मुँह बनाता हो, धूल में लोटता हो, उत्पात करता हो, कहना न मानता हो, तो उसकी देखादेखी दूसरे बालक भी उँगलियाँ चटकाने, मुँह बनाने, धूल में लोटने, उत्पात करने और आज्ञा की अवज्ञा करने लग जायँगे। इस प्रकार उनकी सभी बातें बिगड़ जायँगी। पहले आपको केवल एक ही बालक के जो दोष दूर करने पड़ते वह अब सब बालकों के दूर करने पड़ेंगे। इसलिए ज्यों ही किसी बालक में कोई दोष दिखलाई दे त्यों ही उसे जिस प्रकार हो सके दूर करना चाहिए और दूसरे बालकों में उसे फैलने न देना चाहिए।

कई बालकों के पालन पोषण में भी कुछ कठिनता होती है। बात यह है कि बालक सदा एक दूसरे के साथ रहने में सदा प्रसन्न रहते हैं और स्वभावतः उन्हें आचार-विचार की उत्तमता का बहुत थोड़ा ध्यान रहता है। इसलिए अवसर पा कर बिलकुल अनजान में वे अपने चरित्र और विचार बिगाड़ लेते हैं। यदि उन लोगों को कोई अनुचित बात न सिखलाई जाय तो वे कभी उजड्ड, झूठे या स्वार्थी न होंगे। जो माता-पिता अपना यह कर्त्तव्य पालन कर चुकते हैं उन्हें अपने बालकों के आचरण के कारण कभी कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

इसलिए आपका एक काम यह है कि आप अपने बड़े

बालक के सामने, अनुकरण करने के लिए, बहुत ही उत्तम और उच्च आदर्श उपस्थित करें।

दोषों का निवारण और दंड आदि।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो बालक स्वयं कोई अनुचित कार्य्य नहीं करते। इसलिए उनके कृत्यों के लिए किसी प्रकार का दंड या पुरस्कार निरर्थक होता है।

यदि बालक कोई अनुचित कार्य्य करे तो आप को ज़रा भी क्रोध या दुःख न करना चाहिए, क्योंकि बालक उस कार्य्य को अनुचित समझ कर नहीं करता। यद्यपि इस सिद्धांत को समझते हुए इस प्रकार का व्यवहार करने में आपको कुछ कठिनता होगी, तथापि यदि आप इस बात का दृढ़ विश्वास रक्खेंगे कि आपके बालक निर्दोष हैं, तो समय पाकर आप यह भी समझ जायँगे कि वास्तव में उन्हें कोई अनुचित कार्य्य करना अभीष्ट नहीं होता।

आप यह कह सकते हैं कि यद्यपि बालक जान बूझ कर कोई अनुचित कार्य्य नहीं करते तो भी यदि उनपर डाँट डपट रक्खी जाय और अनुचित कार्य्यों के लिए उन्हें दंड दिया जाय तो वे अच्छे कार्य्यों की ओर प्रवृत्त होंगे। कुछ लोगों का यह सिद्धांत है कि शिक्षा आदि में कड़ाई से काम लेना चाहिए। पर यदि विचार-दृष्टि से देखा जाय तो मालूम हो जायगा कि इससे शिक्षक में पाशव वृत्ति की वृद्धि होती है। इसलिए बालकों, सेवकों, अपराधियों, पागलों और पशुओं तथा अन्य सबों से किसी प्रकार की कड़ाई का व्यवहार करना अनुचित, दूषित, व्यर्थ और त्याज्य है। जो लोग इस सिद्धांत का अनुकरण नहीं करते वे दोषों की निवृत्ति तो कर नहीं सकते, हाँ, अपने दंडों को अधिक प्रभावकारक बनाने के लिए दिन पर दिन कड़ा अवश्य करते जाते हैं जिससे उनमें पाशव और क्रूर वृत्ति बढ़ती जाती है और उनका नैतिक आचरण दूषित होता जाता है। आपको अपने निज के और दूसरों के अनुभव से यह बात मालूम हो जायगी कि पुरस्कार और दंड-युक्त शिक्षा-प्रणाली जितनी प्रशंसनीय है उतनी ही निंद्य भी है।

वर्त्तमान अनुभव हम लोगों को यह बात बतलाता है कि प्रत्येक कार्य्य नम्र बनने से जितनी सरलतापूर्वक निकल सकता है उतनी सरलतापूर्वक उग्र होने से नहीं निकलता। यदि किसी से कोई कार्य्य, आज्ञा के रूप में, करने के लिए कहा जाय तो वह उसपर कभी उचित ध्यान न देगा। पर यदि वही कार्य्य करने के लिए उससे प्रार्थना रूप में, या कम से कम नम्रतापूर्वक कहा जाय तो वह उसे बहुत प्रसन्नतापूर्वक और शीघ्र कर देगा। छोटे, बड़े सबसे काम लेने में जितनी अधिक सहायता नम्रता और दया से मिलती है उतनी अधिक क्रोध या धमकी से नहीं। यह एक साधारण नियम है कि यदि किसी को कोई काम करने से मना किया जाय तो किसी न किसी रूप में उस काम के करने की उसकी प्रबल इच्छा होती है। पर नम्रता-पूर्वक की हुई प्रार्थना अस्वीकार करने में मनुष्य को लज्जा आती है।

आपको सदा यही समझना चाहिए कि आपके लड़के बाले आपके शिष्य हैं और जितनी कठिनता और धीरता से उन्हें पाठ का अभ्यास कराया जाता है उतनी ही कठिनता और धीरता से उन्हें आचार व्यवहार आदि भी सिखलाने की आवश्यकता है। इसलिए आपको एक शिक्षक की भाँति दूरदर्शक होना चाहिए और सदा अपने आपको वश में रखना चाहिए क्योंकि आप के और शिक्षक के कर्त्तव्य समान ही हैं।

बालकों के साथ सदा प्रेम का व्यवहार करके उन्हें प्रसन्न रखना चाहिए और उनका मिजाज कभी बिगड़ने न देना चाहिए। केवल प्रेम का व्यवहार ही आपसे बालकों के साथ उचित न्याय करा सकता है और इसके अभाव में शेष सारे प्रयत्न मिट्टी हो जाते हैं।

बालकों पर प्रसन्नता का वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा वनस्पति पर सूर्य्य का। यदि आप उन्हें प्रसन्न रखेंगे तो उनकी शारीरिक अवस्था सर्वोत्तम

रहेगी, उनकी शिक्षा सर्वोत्तम होगी और उनके व्यवहार भी सर्वोत्तम होंगे।

बालकों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि जो कार्य्य उन्हें कोमल वचनों और प्रार्थना रूप में कहा जाय उसे वे तुरंत कर दें। ऐसी दशा में उस अवसर पर बड़ा आनंद आता है जब कि कोई व्यक्ति उनसे कोई कार्य्य करने के लिए साधारण शब्दों अथवा आज्ञा के रूप में बार बार कहता है और उनके न करने पर आश्चर्य्य से उनका मुँह ताकता है। साथ ही बालकों को इस बात की भी शिक्षा देनी चाहिए कि जिस कार्य्य के लिए उनसे कोमल वचनों में कहा जाय, उसके विषय में वे उत्तर दें कि—"मैं प्रसन्नता से यह कार्य्य कर दूँगा।" ऐसी बातें उन्हें भली भाँति याद कराने के लिए बार बार उनसे अनेक कार्य्य करने के लिए कहना उनके लिए बहुत अच्छा खेल हो जायगा और इससे वे काम अवश्य और बहुत प्रसन्नता पूर्वक करेंगे।

कोमल शब्दों में समझाने और सदा उचित ध्यान रखने से बालकों के अनुचित और दूषित अभ्यास बड़ी सरलता से दूर किए जा सकते हैं। कड़ाई या दलील करने से उनके दूषित अभ्यास नहीं छूट सकते। उन्हें सब बातें प्रसन्नचित्त होकर और मुलायमियत से समझानी चाहिएँ। बालकों से कभी किसी विषय में दलील न करनी चाहिए। उन्हें यह भी सिखला देना चाहिए कि यदि कर्कश स्वर में उनसे कोई कार्य्य करने के लिए कहा जाय तो वे उसपर ध्यान न दें।

बालकों को अपने इष्ट पथ पर लाने और यथेच्छ कार्य्य कराने में उनके कल्पित सुंदर नए नाम रखने से बहुत सहायता मिलती है। यदि चार बरस की किसी बालिका से यह कहा जाय कि—"यदि तुम दिन भर न रोओगी तो संध्या समय तुम्हारा नाम "मोती" रखा जायगा, कल दिन भर न रोओगी तो "पन्ना" कहलाओगी और इसी प्रकार एक सप्ताह बीत जाने पर तुम्हें लोग "हीरा" कहेंगे और तब तुम्हें बाग में घुमाने ले चलेंगे और बढ़िया खिलौना ला देंगे।" और इस प्रकार बीच बीच में ध्यान दिलाया जाय तो वह तो रोना छोड़ही देगी साथ ही पाँच बरस का उसका बड़ा भाई भी रोना चिल्लाना छोड़ देगा। बालकों के इस प्रकार नाम रखने में उनकी भी स्वीकृति ले लेनी चाहिए।

इस प्रकार की गृह शिक्षा में निश्चित मर्य्यादा के अभाव के कारण भी बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

सम्भव है कि बार बार इस प्रकार की प्रार्थना सुनते सुनते बालकों को उसके समझने या तदनुसार कार्य्य करने में कठिनता हो; इसलिए वे सब कुछ सुन कर भी आपका मुँह ताकते रह जाँय। इसलिए आपको मर्य्यादाबद्ध रहना चाहिए।

(क) आवश्यकतानुसार प्रत्येक कार्य्य के लिए कुछ समय नियत कर दो। हर एक काम के लिए उन्हें दो चार या दस मिनट का समय देने से वे बहुत प्रसन्नतापूर्वक निश्चित समय के अंदर कार्य्य कर देंगे। कोई काम कराना हो तो "एक, दो, तीन" कहो, बालक बहुत प्रसन्न होंगे। आगे चल कर यह अवकाश कम कर दो, केवल "एक, दो" कहो, तदुपरांत और भी कम करके केवल "एक" कहो और फिर सब से अंत में इतना कहने की भी आवश्यकता न रह जायगी। अंतिम 'तीन' या 'दो' कहने में शीघ्रता न करनी चाहिए और बालक को कार्य्य समाप्त करने के लिए यथेष्ट समय देना चाहिए। इसी प्रकार उनसे यह भी कहा जा सकता है कि दो, चार या पाँच मिनट तक बिलकुल चुपचाप और शांत रहो और तदुपरांत पाँच मिनट तक भद्रोचित बातें करो। इसी प्रकार के और भी बहुत से नियम हो सकते हैं जिनका पालन बालक तुरंत और बड़ी प्रसन्नता से करेंगे।

(ख) इसी प्रकार कोई बुरा अभ्यास छुड़ाने या अच्छा अभ्यास डालने में भी कुछ उपयुक्त समय निश्चित कर देना बहुत आवश्यक और लाभदायक होता है। बिना इस नियम का पालन किए बहुत समय तक भी कोई फल नहीं होता। बालकों के चौके में बैठने, स्वच्छतापूर्वक भोजन करने और

बिना भोजन किए न उठने की बात ही लीजिए। ऐसा अभ्यास डालने के लिए बालकों को कम से कम एक सप्ताह का समय दिया जाना चाहिए और इस अवसर में आपको बीच बीच में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें इस उद्योग में कहाँ तक सफलता होती है। बिलकुल आरंभ में सब कामों पर आपको पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ेगा और बीच बीच में उन्हें आदत सुधारने के लिए दिए हुए समय का स्मरण भी दिलाना पड़ेगा। पर फिर चार पाँच दिनों बाद आपको ऐसा करने की आवश्यकता न पड़ेगी।

प्रत्येक भूल, पूर्णतः या अंशतः, अज्ञानता के कारण ही होती है। यदि आप उन्हें बराबर बतलाते जांय तो वे बहुत शीघ्र पटरे या आसन पर बैठना और ग्रास उठाना आदि सीख जायँगे। हां, आपको शिक्षक की भांति उन्हें प्रत्येक बात समझाने और सिखलाने में भारी कठिनता अवश्य होगी। ऐसी दशा में आपको अधीर न हो जाना चाहिए क्योंकि बालक यह नहीं जानते कि आप उनसे क्या चाहते अथवा क्या आशा रखते हैं। इसका कारण यह है कि या तो बालक उन बातों को भली भांति समझते नहीं या शीघ्र भूल जाते हैं। प्रत्येक नया अभ्यास डालने के लिए बालकों को अपना पुराना अभ्यास भुलाना पड़ता है। एक अभ्यास डालने का अर्थ, साधारणतः दूसरा अभ्यास दूर कर देना ही है।

यदि इस प्रकार किसी अनुचित अभ्यास को दूर करने के लिए बालकों को थोड़ा निश्चित समय न दिया जाय तो वह अभ्यास महीनों बल्कि बरसों तक पड़ा रहेगा। इस नियम के पालन का प्रभाव विद्युत् की भांति होता है और इससे आपकी कठिनाइयाँ तुरंत और सदा के लिए दूर हो जाती हैं। पर यदि ऐसा न किया जाय तो दिन पर दिन बुरे अभ्यास बढ़ते जायँगे और प्रायः व्यर्थ डांटते डपटते और मना करते करते अंत में आप थक कर निराश हो जायँगे और बालकों के आचार व्यवहार आदि सदा के लिए बिगड़ जायंगे। बुद्धिमान माता-पिता, एक एक करके, सब आनेवाली कठिनाइयों को दूर कर लेते हैं।

(ग) अपने उद्योग में सफलता प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि आप बालकों से एक बार में व्यवहार आदि के संबंध में केवल एक या दो चार सुधार ही करने के लिए कहें। एक ही सप्ताह में सारे आचरण सुधारने के लिए कहना, अथवा ऐसे कार्य्य कराने का उद्योग करना जो बालकों की शक्ति के बाहर हों, सदा निरर्थक और निराशाजनक होता है। इसलिए एक सप्ताह में केवल एक या दो अभ्यास ही सुधारने का प्रयत्न होना चाहिए और शेष अभ्यासों को भविष्य में सुधारने के लिए छोड़ देना चाहिए।

बालकों से सदा बहुत कम बातें कहनी चाहिएं कि जिसमें वे उसपर यथेष्ट ध्यान दें। कोई बात ऐसी नहीं कहनी चाहिए जिसकी तह में और भी अनेक बातें हों। एक अच्छे शिक्षक की भांति आपको अपने समक्ष उपस्थित इन सीधे और सरल कार्य्यों से कभी मुँह न मोड़ना चाहिए। किसी कार्य्य में कभी उतावलापन न करना चाहिए। ऐसा करने से आपके बालक भी प्रसन्न रहेंगे और आपको कुढ़ना भी न पड़ेगा।

इनके अतिरिक्त बालकों को यह जानने के लिए कि क्यों ऐसा कार्य्य वर्जित है जो ऊपर से देखने में निर्दोष मालूम पड़ता है, क्यों किसी काम में कोई रिआयत नहीं होती और क्यों प्रत्येक कार्य्य तुरंत होना चाहिए, प्रत्येक बात या अभ्यास की वास्तविकता भी जाननी चाहिए। बालक जब कोई काम करना चाहें तो उन्हें बतला देना चाहिए कि यह काम उचित है या अनुचित। यदि कोई बात अनुचित होने पर भी बहुत अधिक हानिकारक न हो तो पहले उचित कार्य्य कराके उन्हें दूसरे कार्य्य के अनौचित्य और दोष का भी अनुभव करा देना चाहिए।

यदि कोई बालक कोई अनुचित कार्य्य भी केवल एक ही बार करना चाहे, तो इस शर्त पर आप

उसे वह कार्य्य करने की आज्ञा दे सकते हैं कि उस दिन फिर वह कभी ऐसा कार्य्य न करेगा। जब बालक भली भाँति सीखने लगे तो उसे बीच बीच में ऐसी बातों की आज्ञा भी बड़ी प्रसन्नता से दे देनी चाहिए। केवल प्रारंभिक शिक्षा के समय ही आपको बुरे अभ्यास छुड़ाने और अच्छे अभ्यास डालने के संबंध में इस प्रकार के मानसिक नियमों पर बहुत विशेष ध्यान रखना पड़ेगा। आरम्भ में केवल बुरे अभ्यासों को छुड़ाने के लिए ही कभी कभी उन्हें इस प्रकार के अनुभव का अवसर देना चाहिए। ऐसा करना मानों उन्हें सुधरने का अवसर देना है।

यदि आपका स्वभाव मृदुल हो तो आपके घर की सभी बातें सर्वोत्तम हो सकती हैं। उस दशा में जल्दी जल्दी नए उत्तम अभ्यासों की सृष्टि होती है और वे अपने उत्तम और आदर्श परिणामों के कारण तुरंत ग्रहण कर लिए जाते हैं। इसके विरुद्ध उग्रता और कठोरता आदिका परिणाम बुरा होता है। यदि आप सदा प्रसन्नचित्त रहेंगे तो आपके बालक भी प्रसन्नता और साहसपूर्वक सब प्रकार की कठिनाइयाँ और कष्ट सहेंगे, कभी दुखी या निराश न होंगे और उनमें सद्गुणों और सद्विचारों की वृद्धि होगी और ऐसी परिस्थिति में पड़ कर नैतिक दोषों का तुरंत नाश हो जायगा।

बालकों के साथ कभी किसी प्रकार की कठोरता या उग्रता का व्यवहार न करके सदा उन्हें सद्गुणी और सज्जन बनाने में सहायता देनी चाहिए। आपको क्रम क्रम से उन्हें इस योग्य बना देना चाहिए कि वे इस बात को स्वीकार कर लें कि वे कभी इंद्रियों या वासनाओं के वश में न हो कर सदा सात्विक बने रहना चाहेंगे। उन्हें इस बात के लिए भी उत्तेजित करना चाहिए कि वे इस बात में सदा अपने बड़ों से सहायता लिया करें। उनके साथ बड़े अभिभावकों की भाँति नहीं बल्कि वयस्क मित्रों की भाँति व्यवहार करना चाहिए। यदि इस नियम का पूरा पूरा पालन किया जाय तो सौ में पंचानवे बालक ऐसे निकलेंगे जिनके सभी कृत्य सात्विक, प्रशंसनीय, उच्च और सर्वप्रिय होंगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि अनेक अवसरों पर बालकों के लिए हलका दंड भी उचित है। बात यह है कि बालकों का बुरा अभ्यास छुड़ाने या उन्हें अच्छा अभ्यास डालने के लिए असाधारण उपायों का प्रयोग होना चाहिए। यदि कोई बालक कुछ अनुचित कार्य्य करे तो अपने कृत्य पर विचार करने के लिए उसे किसी कोने या दूसरे कमरे में भेज देना अथवा इसी प्रकार का और कोई दण्ड देना बहुत कुछ फलदायक होता है और बालक के हृदय पर उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। यदि बिना किसी प्रकार का क्रोध, आदेश या असंतोष प्रकट किए इन उपायों का अवलंबन किया जाय तो वह भी दण्ड के बहुत कुछ समान हो जाता है।

यदि दो तीन बार लगातार समझाने पर भी कोई बालक अपना कोई बुरा अभ्यास न छोड़े तो आप उसे धीरे से थोड़े शब्दों में समझा दें कि यदि इस बार तुम अमुक कार्य्य करोगे तो तुम्हें एक बार चौके से बाहर बैठकर भोजन करना पड़ेगा। अनेक अवसरों पर तो यही दण्ड यथेष्ट हो जायगा और बालक को इस बात का ध्यान भी न होगा कि उसे कुछ दण्ड मिला है। यदि अपराध कुछ और भारी हो तो यह दण्ड भी और बढ़ाया जा सकता है।

इन दशाओं में क्रोध की कोई संभावना नहीं होती और परिणाम भी बहुत अच्छा निकलता है। ऐसी बातों को दंड के साथ कभी सम्मिलित न करना चाहिए। ये उपाय सभी लोग कर सकते हैं। पर साथ ही इनका प्रयोग बहुत अधिक भी न होना चाहिए, नहीं तो इनका तात्पर्य्य यही होगा कि उपायों का दुरुपयोग हो रहा है। जब यह बात मालूम हो जाय कि अमुक बुरा अभ्यास बालक को पूरा पूरा पड़ गया है, तभी इन उपायों का अवलंबन होना चाहिए। जो बात मना की गई हो यदि एक सप्ताह बीत जाने पर भी बालक उसे करता

रहे तो उसी से पूछना चाहिए कि तुम अपने लिए कौन सा दंड उचित समझते हो। वह उत्तर देगा कि मैं दो मिनट तक कोने में खड़ा रहूँगा। दो मिनट बीत जाने पर आप फिर उससे वही प्रश्न करें तो वह चार मिनट के लिए कहेगा। इस प्रकार करते रहने से आप ही आप उसका वह बुरा अभ्यास छूट जायगा।

यदि कोई बालक कुछ बुरा कार्य्य करे और उसे मारने पीटने से कोई फल न निकले तो उक्त प्रकार से ही दंड देना चाहिए; घंटे दो घंटे के लिए उससे बोलना छोड़ देना चाहिए अथवा इसी प्रकार का और कोई दंड देना चाहिए। जिस प्रकार कोई चिकित्सक किसी रोगी के साथ व्यवहार करता है उसी प्रकार आपको भी बालक के साथ व्यवहार करना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि आप बिगड़ खड़े होंगे तो बालक भी बिगड़ जायगा और आपके सुधार के प्रयत्न का कुछ भी फल न होगा। शांत और विचारवान् चिकित्सक की भाँति आपको भी अपने भूल करनेवाले बालक के साथ शांति और विचार-पूर्वक व्यवहार करना चाहिए। निम्न-लिखित बातों का सदा बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिए।

(क) मृदुल स्वभाव बहुत ही आवश्यक है।

(ख) बालकों की वास्तविक दशा जानने और उनके साथ न्यायसंगत व्यवहार करने के लिए अपने आपको भी बालक ही समझना चाहिए। केवल इतना समझने से आपका काम न चलेगा कि वे आपको कुछ नहीं सिखला सकते।

(ग) विचार और समझ से बहुत अधिक कार्य्य लेना चाहिए; इस प्रकार आप शीघ्र समझ जायँगे कि सर्वोत्तम कर्त्तव्य क्या है।

(घ) अपना विचार और निश्चय सदा दृढ़ रखना चाहिए और जब तक इस बात का यथेष्ट प्रमाण न मिल जाय कि आपका अभीष्ट सिद्ध हो गया तब तक अपना निश्चय बदलना न चाहिए। ऐसा करने से बालक अपने साधारण छोटे उपायों से आपको अपने निश्चय से डिगा न सकेंगे और बालक तथा आप दोनों ही प्रसन्न भी रहेंगे।

(च) इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तिगत सम्मान या संस्कार अथवा दूसरों के आदर-भाव का विचार बालकों के लिए भी उतना ही उपयुक्त और आवश्यक है जितना बड़ों के लिए।

इन उपायों का पूरा पूरा अवलंबन करके बहुत ही कम निराश होना पड़ता है। सब लोगों को, विशेषतः माता-पिता को सदा सब का पूरा और उचित ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार आपके मन में कभी दंड देने का विचार न उठेगा और आपका गार्हस्थ्य-जीवन यथेष्ट उत्तम और आदर्श हो जायगा।

मनाही। पुलिस के सिपाही का कर्त्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रक्खे कि कोई मनुष्य कानून के विरुद्ध किसी प्रकार का अपराध न करे; पर आपका कर्त्तव्य अपने बालकों में क़ानून या नियमों के प्रति अनुराग उत्पन्न करना है। इसलिए उन्हें दोषों से सचेत करते रहने की अपेक्षा आपके लिए अधिक उत्तम और उचित यही है कि आप उनके सामने अच्छे कार्य्यों की प्रशंसा करें और उनकी उपयुक्तता तथा उत्तमता दिखला दें।

किसी बालक को यह कहने की अपेक्षा कि—"तुम पाजी हो।" यह कहना अधिक उचित है कि—"तुम बहुत अच्छे (या ठीक) नहीं हो।" "तुम दोषी हो" "रोओ मत" "गंदे मत रहो" "शोर मत करो" "उत्पात मत करो" आदि कहने की अपेक्षा बहुत धीरे से और समझाकर उनसे कहना चाहिए—"तुमने भूल की है" "प्रसन्न हो जाओ—हँस दो" "साफ रहा करो" "धीरे बोला करो" शांत होकर बैठो" आदि।

यह बात सब लोग स्वीकार करते हैं कि इन दो प्रकार के व्यवहारों में बड़ा भेद है। एक प्रकार का व्यवहार मनुष्यों के विचार दोषों और बुराइयों की ओर ले जाता है और दूसरे प्रकार का व्यवहार

उनके विचारों को उत्तम ग्रैार सुन्दर कार्यों की ग्रोर ले जाता ग्रैार सदा उन्हें सात्विक बने रहने का अभ्यास कराता है। "पाजी" "गधा" आदि शब्द पाजीपन ग्रैार गधेपन की ग्रोर ध्यान आकर्षित कराते हैं ग्रैार बालक दूसरों को भी "पाजी" "गधा" आदि कहने लगता है। पहले पक्ष की सरलता ही यह बतला देती है कि उसकी उत्पत्ति अज्ञानता ग्रैार अयुक्ति से युक्त है ग्रैार उसके मूल में कोई अच्छा आदर्श नहीं है; पर दूसरे पक्ष की कठिनता यह बात सिद्ध करती है कि उसमें न्याय से काम लिया ग्रैार शिक्षा के सुन्दर परिणाम पर ध्यान रक्खा गया है। इसलिए सदा अच्छी बातों पर ध्यान रखना चाहिए ग्रैार बुरी बातों को दिल से निकाल देना चाहिए। अच्छी बातों पर जितना ध्यान रहता है अथवा रहना उचित है, वह तो रहना ही चाहिए; साथ ही जो ध्यान बुरी बातों की ग्रोर जाता हो उसे भी अच्छी बातों की ग्रोर प्रवृत्त करके उसकी मात्रा दूनी कर देनी चाहिए।

शरीर की रक्षा।

कुछ लोग तो ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि यदि बालक के स्वास्थ्य का पूरा पूरा ध्यान रक्खा जाय तो वह प्रसन्न, बुद्धिमान् ग्रैार सज्जन होगा; पर ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो यह समझते हैं कि जीवन के उच्चतर कार्य्यों में स्वास्थ्य से कोई सहायता नहीं मिलती। पर हम इन दोनों का मध्यवर्त्ती पक्ष बतलाना चाहते ग्रैार कहते हैं कि यदि विचार ग्रैार आचरण पर उचित ध्यान न रक्खा जाय तो स्वास्थ्य भी कभी न कभी अवश्य बिगड़ जाता है; ग्रैार यदि स्वास्थ्य पर ध्यान न दिया जाय तो चरित्र ग्रैार विचारों के उच्चतम होने की बहुत ही थोड़ी जगह बच जाती है।

अंतिम बात का महत्त्व आपको भूल न जाना चाहिए। बालकों को केवल नित्य नहला धुलाकर उनका शरीर स्वच्छ रखना ग्रैार उन्हें साफ़ कपड़े पहनाना ही पर्य्याप्त नहीं है बल्कि उनके भोजन पान आदि सभी छोटी बड़ी बातों में बहुत अधिक स्वच्छता का ध्यान रखना चाहिए। उनके लिए दूध तथा अन्य खाद्य पदार्थ सदा बहुत अच्छा होना चाहिए ग्रैार सब चीज़ें बहुत अच्छी तरह उबाली ग्रैार पकी हुई होनी चाहिएं। उनके पीने का दूध ग्रैार पानी ख़ूब अच्छी तरह गरम कर लेना चाहिए। उनके खाद्य पदार्थों में ऋतु आदि के अनुसार कभी कभी कुछ परिवर्त्तन भी करते रहना चाहिए ग्रैार नित्य उन्हें कुछ फल आदि भी देने चाहिएं। उनका भोजन सादा पर कई प्रकार का होना चाहिए। यदि बालक की पाचन-शक्ति ठीक हो ग्रैार उसे ख़ूब भूख लगती हो तो समझना चाहिए कि उसे ठीक ठीक भोजन मिलता है। जाड़े के दिनों में उन्हें गरम ग्रैार गरमी के दिनों में हलके कपड़े पहनाने चाहिएं; ऋतु के अनुसार उनका ग्रोढ़ना बिछौना भी बदलते रहना चाहिए। उन्हें मादक द्रव्यों तथा बहुत अधिक सरदी ग्रैार गरमी से भी बचाना चाहिए। सब ऋतुग्रों में खुली हवा में उन्हें व्यायाम कराना चाहिए, कभी किसी दशा में बहुत अधिक न थकने देना चाहिए ग्रैार इच्छा प्रकट करते ही उन्हें तुरंत आराम करने देना चाहिए। यदि बालक दुखी मालूम पड़े तो देखना चाहिए कि उसके कमरे में स्वच्छ प्रकाश पहुँचता है या नहीं ग्रैार उसकी पाचन-शक्ति ठीक है या नहीं। यदि वह ज़रा भी बीमार हो तो तुरंत डाक्टर को बुलवाना चाहिए ग्रैार उसकी सम्मति के अनुसार कार्य्य करना चाहिए। बीच बीच में उनके दाँतों, कानों ग्रैार आँखों आदि को भी ध्यानपूर्वक देख लेना चाहिए। यदि भय हो तो बालक के भली भाँति लालन-पालन के विषय में किसी योग्य डाक्टर की सम्मति भी ले लेनी चाहिए।

इस अवसर पर बहुत सी बातों अथवा किसी एक बात के विषय में बहुत कुछ कहना असंभव है। पर यदि आप ऊपर लिखी बातों का पूरा पूरा अभिप्राय समझ लें तो यह प्रकरण लिखने का उद्देश्य पूरा हो जायगा। इस पुस्तक का अभिप्राय यही है कि जो माता-पिता अपने बालकों के स्वास्थ्य या

आचरण में से किसी एक से भी उदासीन हो जाते हैं वे दोनों से उदासीन होकर उन्हें नष्ट कर देते हैं।

मनुष्य की चार अवस्थाएं।

यहाँ तक शिक्षा की प्रारम्भिक बातों का वर्णन करके अब हम उसकी वास्तविक प्रणाली बतलाते हैं। अपने इस कार्य्य के लिए हम शिक्षा-काल को चार अवस्थाओं में विभाजित करते हैं।—(क) जन्म से ढाई वर्ष तक की अवस्था, (ख) ढाई से सात वर्ष तक की अवस्था, (ग) सात से इक्कीस वर्ष तक की अवस्था और (घ) इक्कोस वर्ष से ऊपर की अवस्था। पहली अवस्था में जब कि बालक को उतनी समझ नहीं होती, आप को उसे अच्छे अभ्यास डालने पर विशेष ध्यान देना चाहिए। दूसरी अवस्था में जब कि बालक में इतनी समझ आ जाती है कि वह आज्ञाओं का यथावत् पालन कर सके, उसको आज्ञाकारी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। तीसरी अवस्था में जब कि उसकी मानसिक शक्तियाँ भली भाँति विकसित हो जाती हैं, उसे आदर-भाव से शिक्षा देनी चाहिए। इसके उपरांत की और अंतिम अवस्था में उसे आत्मनिर्भर होकर स्वयं अपना पथ-दर्शक बनना चाहिए।

इतना होने पर भी उत्तम अभ्यास डालने का क्रम बराबर दूसरी, तीसरी और चौथी अवस्थाओं में भी जारी रहना चाहिए। इसी प्रकार आज्ञाकारिता का क्रम तीसरी और चौथी अवस्थाओं में और आदर-भाव का चौथी अवस्था में जारी रहना चाहिए। वास्तव में इन चारों प्रणालियों का प्रयोग सभी अवस्थाओं में किसी न किसी अंश में हो सकता है। जिस समय जिस बात की अधिक आवश्यकता हो उस समय उसी बात पर ज़ोर देना उचित है।

इस पुस्तक में पहली, दूसरी और तीसरी अवस्थाओं पर अधिक ज़ोर दिया जायगा।

मनुष्य की चार अवस्थाऐं।

जन्म से ढाई वर्ष तक की अवस्था।

साधारण बातें।

(क) जन्म लेते ही और उसके कुछ समय बाद तक बालक बहुत ही निस्सहाय अवस्था में रहता है। बहुत प्रारम्भिक अवस्था में चाहे उसकी आवश्यकताएं कितनी ही अधिक हों तथापि उसमें अभिलाषाओं का अभाव ही रहता है। उस समय आपको बालक से यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तुम अमुक कार्य्य करो अथवा न करो। वह स्वयं अपनी आवश्यकताएं नहीं जानता; और यदि किसी प्रकार जान भी ले उसमें उन्हें पूर्ण करने की योग्यता नहीं होती। और यदि वह किसी प्रकार अपनी आवश्यकताएं और उन्हें पूर्ण करने के उपाय जान भी ले तो भी अपनी शारीरिक अशक्ति के कारण वह उन्हें पूरा करने में असमर्थ ही रह जाता है।

(ख) कुछ महीनों बाद बालक में कुछ निश्चित अभिलाषाएं हो जाती हैं पर उस समय भी उसकी शारीरिक स्थिति उसे असमर्थ ही रखती है। उस अवसर पर उसकी आवश्यकताएं तो अनेक होती हैं पर उन्हें प्रकट करने की उसमें शक्ति नहीं होती। यदि वह भूखा या प्यासा हो, यदि उसे सरदी या गरमी लगती हो, यदि वह अस्वस्थ या दुखी हो, यदि उसे कोई चोट लग गई हो अथवा उसे और किसी प्रकार का कष्ट हो तो वह केवल रोने चिल्लाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसी दशा में उसके कष्ट का कारण जानना आपका काम है। निम्न-लिखित कारणों से बालकों में बेचैनी होती है:—

अधिक सोना या जागना, सरदी, गरमी, भूख, बहुत अधिक पेट भरा होना, भोजन का उपयुक्त या उत्तम न होना, आराम न मिलना, कुछ गड़ना, किसी दूसरे का दूध आदि पिलाना, तंग कपड़ा, कुछ काम न होना, कोई प्रसन्न करने वाला या नया काम न होना, चोट, दर्द, (इस दशा में

सारा बदन छूकर देखना चाहिए), गोद में जाने की इच्छा होना, लेटने की इच्छा होना, बैठने की इच्छा होना, गुल-गपाड़े से जी घबराना, करवट बदलने की इच्छा होना, किसी प्रकार की आवश्यकता होना, गीला, गंदा, भयभीत थका या माँदा होना।

(ग) जब बालक अट्ठारह महीने का हो जाता है तो वह अपनी आवश्यकताओं को किसी न किसी प्रकार जतलाने के योग्य हो जाता है। वह थोड़े से पर बहुत ही उपयोगी शब्द भी याद कर लेता है। अपने बहुत से काम वह आपही कर लेता है। यदि उससे कोई काम करने के लिए कहा जाय तो वह उसे समझता और कुछ अंशों में करता भी है।

छोटे बालक को इस प्रकार तीन अवस्थाएँ पार करनी पड़ती हैं। अब उसे शिक्षा देने का प्रकार आपके उद्देश्य और लक्ष्य पर निर्भर करता है। यदि आपका उद्देश्य उसे सुयोग्य, सशक्त, परिश्रमी और दयालु बनाना हो तो आपको अभी से उसे इन बातों पर लक्ष्य करके शिक्षा आरम्भ कर देनी चाहिए। ऐसी दशा में जब कि बालक न तो आपकी आज्ञाएँ समझ सकता हो और न वह उनके पालने में समर्थ हो तो उसे कुछ सिखलाने या समझाने का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता; तथापि उस दशा में शिक्षा का, पूरा करने के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अवश्य रहता है। वास्तव में बालक की जन्म से ढाई वर्ष तक की अवस्था बहुत मुख्य होती है क्योंकि उसके भविष्य की नीव उसी समय पड़ती है।

चाहे आरंभ में आप बालक से किसी बात के लिए कह न सकें तथापि आप उसका प्रभाव उस पर डाल सकते हैं। आप उससे जो चाहें करा सकते हैं, जिस दशा में चाहें रख सकते हैं और उसके साथ जैसा उचित समझें व्यवहार कर सकते हैं। उस समय वह सब प्रकार से आपके अधिकार में होता है। न वह कोई बात स्मरण रख सकता है और न आपके विचारों में सहायता दे सकता अथवा बाधा डाल सकता है। उस समय यदि आपका उद्देश्य निश्चित हो और आप विचारपूर्वक कार्य्य करें तो स्वयं बालक की असमर्थता ही आपको बहुत कुछ सहायता दे सकती है।

किसी वयस्क मनुष्य को किसी बतलाये हुए मार्ग पर चलाना बहुत कठिन होता है। यदि वह स्वयं भी उस पथ पर चलना चाहे तो भी अपने पुराने अभ्यास के कारण उसका निश्चय अपूर्ण रह जाता है। पर बालक में यह बात नहीं होती। उसकी प्रकृति बहुत ही उपजाऊ और शुद्ध भूमि की तरह होती है और यदि आप विचार से काम लें तो अवश्य कृतकार्य्य हो सकते हैं।

इस अवसर पर एक ऐसी कठिनता आ पड़ती है जो यदि आप होशियार रहें तो आपको कोई हानि नहीं पहुँचा सकती। आप अपने बालक को सदा उपयुक्त भोजन दें, उसे उचित और यथेष्ट शारीरिक तथा मानसिक अभ्यास करावें, दिन रात स्वच्छ और ताज़ी हवा में रक्खें, उसे ठीक तरह से स्नान आदि करा दें, गरम रक्खें और खेलने या आराम करने दें। यदि इन बातों का पूरा ध्यान रक्खा जाय तो फिर किसी प्रकार के भय की संभावना नहीं रह जाती।

चाहे आप उसे आज्ञाएँ न भी दे सकें पर तो भी आप उसे ऐसे अभ्यास डाल सकते हैं जो उसे आपके उद्दिष्ट मार्ग पर चला सकें। आरंभ में आपका प्रधान लक्ष्य अच्छी आदतों पर होना चाहिए और साथ ही साथ उससे ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि जिसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़े और जो उसे भविष्य के लिए तैयार कर सके।

जिस बालक को बुरे अभ्यास पड़ गए हों उसके अनुचित कृत्यों से कुढ़ना या खिजलाना और भी बुरा होता है। पर यदि बालक को अच्छी तरह शिक्षा दी गई हो तो यह बात नहीं होती; क्योंकि उस दशा में एक अच्छे अभ्यास से दूसरा नया अच्छा अभ्यास डालने में बहुत सहायता मिलती है। पर बिना उचित व्यवहार किए यह बात नहीं हो सकती। यदि आप, उसके साथ ठीक ठीक व्यवहार करें तो शीघ्र ही यदि उसमें कोई पहले की बुरी

आदत होगी तो वह भी छूट जायगी और वह नई अच्छी आदतें भी सीख लेगा।

सब बातें क्रमबद्ध होनी चाहिएं।

यदि सब बातों का क्रम विचारपूर्ण हो तो बालक की उचित आवश्यकताएँ बहुत अच्छी तरह पूरी हो सकती हैं और उसमें मानसिक या शारीरिक दुर्बलता भी नहीं आ सकती। यदि परिस्थिति ठीक हो तो उसे आपसे आप अच्छी आदतें पड़ जायँगी और आगे चल कर जब वह उनसे अभिज्ञ हो जायगा तो यही आदतें उसमें स्वाभाविक मालूम होने लगेंगी। उसका स्वभाव विनोदपूर्ण हो जाता है, मनमें खूब सोचने की शक्ति आ जाती है और इच्छा-शक्ति बहुत सरलता से वश में की जा सकती है।

इस संबंध में नीचे लिखे प्रकार के अभ्यास हो सकते हैं:—

(१) बराबर ठीक समय पर बालक को लेटा देना चाहिए और उस समय यदि वह जागता हो तो उसे अकेले छोड़ देना चाहिए और कमरे में कोई प्रकाश न रहने देना चाहिए।

(२) उसे ठीक समय पर उठ बैठना चाहिए और अवस्थानुसार निश्चित समय से अधिक न सोना चाहिए।

(३) स्वास्थ्य ठीक रहने पर उसे नित्य निश्चित समय और स्थान पर नियमित रूप से नहलाना और दूध आदि पिला देना चाहिए और निश्चित समय से पूर्व उसे किसी प्रकार का भोज्य पदार्थ नहीं मिलना चाहिए।

(४) प्रायः सभी ऋतुओं में दिन में कम से कम दो बार और डेढ़ घंटे के लिए उसे घर से बाहर खुली हवा में रखना चाहिए।

(५) ढाई बरस की अवस्था से उसे स्वयं ही खाने, नहाने और कपड़ा पहनने लगना चाहिए।

(६) उसे छड़ी, चाकू, दियासलाई, दीया अथवा इसी प्रकार की और कोई चीज न छूनी चाहिए और न दूसरे के पास कोई चीज देख कर उसे लेने की इच्छा प्रकट करनी चाहिए।

(७) भोजन से पहले और पीछे उसे अच्छी तरह हाथ मुँह धो लेना चाहिए और सदा स्वच्छ रहना चाहिए।

(८) तौलिए या रूमाल से उसे हाथ मुँह पोंछना चाहिए।

(९) जब तक वह स्वस्थ हो तब तक उसे सदा उचित और निश्चित समय पर प्राकृतिक आवश्यकताओं (पेशाब, पैखाना आदि) से निवृत्त करा देना चाहिए।

(१०) उसे प्रसन्नचित्त होकर सबका अभिवादन आदि करना, उनका मिजाज पूछना और आवश्यकतानुसार उन्हें धन्यवाद देना चाहिए।

(११) धीरे धीरे उसे इस सिद्धांत का अनुयायी बनाना चाहिए कि—"प्रत्येक वस्तु के लिए एक उपयुक्त और निश्चित स्थान होना चाहिए और प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर रक्खी जानी चाहिए।"

इन सब अभ्यासों से आपका भी कल्याण होगा और बालक का भी; और यदि उनके साथ विचार और दृढ़तापूर्वक व्यवहार किया जायगा तो उन्हें किसी प्रकार की कठिनता न हो सकेगी। बालक खूब स्वच्छन्दतापूर्वक रह सकेंगे और उनमें किसी प्रकार के बुरे अभ्यास न रह जायँगे।

बालक से बहुत ही थोड़ी और मुनासिब बात कहनी चाहिए। दो ही एक शब्दों में और स्पष्टतापूर्वक उसे सारी बात समझा देनी चाहिये और बिना उसे डाँटे डपटे, मारे पीटे या उसपर बिगड़े, और प्रसन्न होकर उससे आज्ञा-पालन कराना चाहिए। दलील करने से बालक का स्वभाव बिगड़ जाता है और वह आज्ञाकारी नहीं रह जाता। किसी बात को बार बार दोहराना न चाहिए। यदि डेढ़ बरस से अधिक अवस्था का स्वस्थ बालक कोई अनुचित या अनावश्यक पदार्थ माँगे तो उसकी बात पर ध्यान न देना चाहिए और